प्राकृत भारती पुष्प १५५

तिर रही वन की गंध
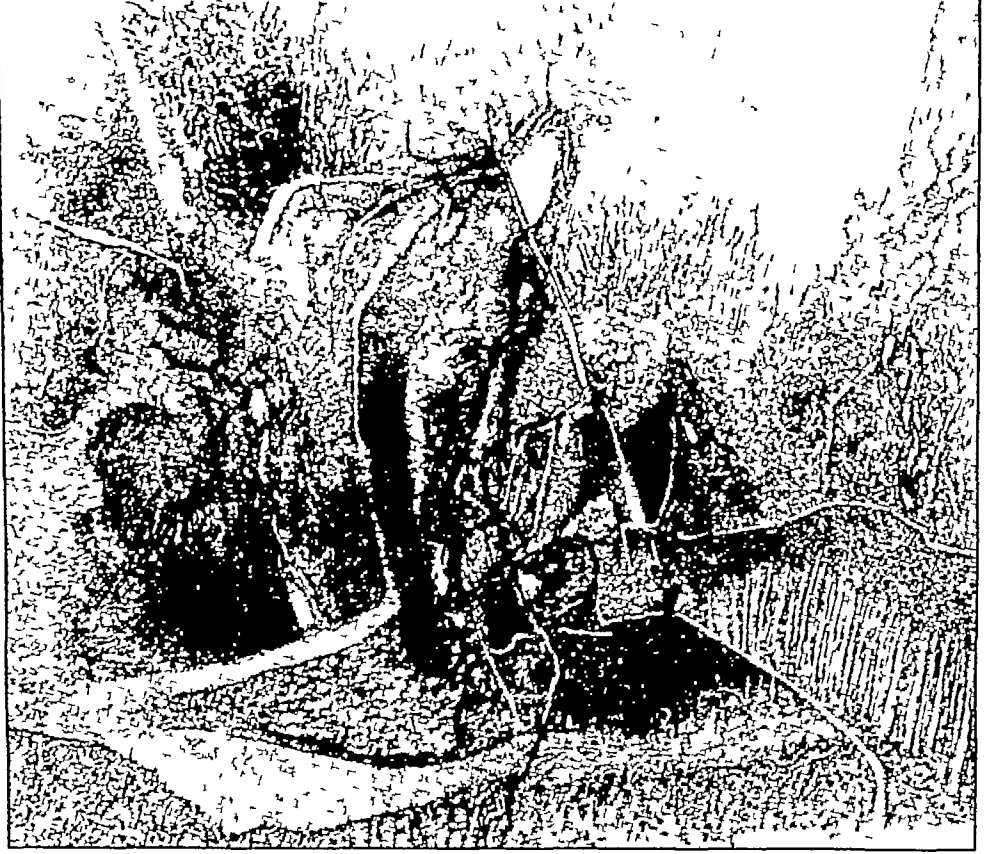
वाक्पतिराज का
प्रकृतिकाव्य

मुकुन्द लाठ

के छन्दो मे

प्राकृत भारती अकादमी के लिए
राका प्रकाशन, इलाहाबाद

नीरजा को

आमुख

सग्रह पर कुछ खुलासे की अपेक्षा कुतूहली पाठक को पुस्तक देखते ही लग सकती है। पढने की पहल के साथ ही वाक्पतिराज के बारे में जिज्ञासा उठना स्वाभाविक है। वाक्पति बहुत परिचित कवि नहीं हैं। फिर कविताओं के साथ दो रचयिताओं के नाम हैं, और दोनों बिलकुल दो भिन्न—असपृक्त, विविक्त—व्यक्ति हैं, जिनके बीच सदियों का अतराल है। वाक्पतिराज के मूल और मेरे 'छदों' का क्या सबध है? यह प्रश्न भी सहज ही उठ सकता है। व्याख्या की माग करता है। मेरे छद अगर अनुवाद हैं तो 'मेरे छद' क्यों? क्या मूल और रूपान्तर के किसी अलग से आदर्श की ओर यह इशारा है? बात चर्चा चाहती है। जो मैंने की भी है, पर अत में की है—'अनुवचन' शीर्षक से। मेरे प्रयास पर और वाक्पतिराज की कविता और उसके सदर्भ, इन बातों पर 'अनुवचन' में विचार है। इसे अनु-वचन के रूप में पीछे इसलिये दिया है क्योंकि मैं समझता हूँ कि कविता पर विचार हो भी तो कविता के बाद होना चाहिये, पहले नहीं। कविता पर बात पहले कविता की माग करती है।

किसी पुस्तक के लिखने से छपने तक की यात्रा लम्बी होती है (इस पुस्तक की यात्रा तो विशेष ही लम्बी रही है)। यह यात्रा कभी अकेले की नहीं होती। कइयों का साथ होता है इसमें। सभी मेरे लिये धन्यवाद के पात्र हैं। कुछ विशेष। श्री देवेन्द्रराजजी मेहता ने प्राकृत भारती अकादेमी के लिए काम में मुझे प्रेरित किया और बार-बार प्रेरित करते रहे। लेखन को छपने की चौखट तक आने में देर लगी तो मेरे कारण। श्री यशदेवजी शल्य का यों भी मैं बहुत ऋणी हूँ। इस सग्रह के तो लिखने से लेकर छपने तक उनका भीतर का साथ रहा है—काव्यालोचन से लेकर प्रकाशन तक। श्री दामोदर पारीक ने काम को अपने कम्प्यूटर पर अपनी सधी हुई निष्ठा के साथ न साधा होता तो पुस्तक छपने-योग्य आकार नहीं ले सकती थी। प्रच्छद अगर आपको पसन्द आया तो श्रेय फिर से मेरे मित्र विनय जैन को जाता है। प्रच्छद पर का चित्र मेरे पुत्र श्री अभिनन्द लाठ ने मेरे अनुरोध पर बनाया है।

सग्रह के कुछ अलग-अलग अश दो बार पत्रिकाओं में छप चुके हैं। पहला प्रकाशन *रगायन* (वर्ष 31, जुलाई-दिसम्बर, 1998, अक 3 व 4) में हुआ, दूसरा *बहुवचन* (वर्ष 2, अक दो, अप्रैल-मई-जून 200) में। दोनों के तत्कालीन सपादक थे—पीयूष दईया।

—मुकुन्द लाठ

प्रकाशकीय

वाक्पतिराज का **गउडवहो** प्राकृत साहित्य का एक विलक्षण महाकाव्य है। ऐतिहासिक काव्य होते हुए भी यह काव्य ही अधिक है, इतिहास कम। रसिकों में इसकी ख्याति भी काव्य के रूप में ही रही है। पर प्राकृत में होने के कारण वाक्पति की प्रतिभा से हमारा परिचय कम है। वाक्पति सस्कृत के सुप्रसिद्ध कवि भवभूति के लगभग समकालीन थे और कन्नौज में उनके साथ इतिहास-विख्यात राष्ट्रकूट सम्राट यशोवर्मा के सभारत्न भी। वाक्पति की शैली भवभूति के समान ही प्रौढ और प्रभावशाली है। पर उनकी कवि-दृष्टि की जो विशेष बात है वह है उनकी प्रकृति के प्रति अपूर्व और सूक्ष्म सवेदना, जो अपनी अभिव्यक्ति में बडी सुलभ, सहज-ग्राह्य होने के साथ ही व्यजना में भाव-गभीर है।

प्रस्तुत सग्रह वाक्पति के प्रकृति-काव्य का एक अपने ढंग का अनूठा हिन्दी काव्य-रूपान्तर है जो वाक्पति को हिन्दी की अपनी स्वतन्त्र सम्पत्ति बनाने की चेष्टा करता है। आशा है इस माध्यम से सदियों दूर से आती वाक्पति के काव्य की सदा-नवीन ध्वनि हममें झकृत हो पायेगी, हमें प्रकृति के अधिक निकट लायेगी। प्रकृति के साथ प्राकृत के वैभव के प्रति भी जागरूक करेगी। आज हम प्रकृति से दूर होते जा रहे हैं। कविता के सरस माध्यम से हम अगर प्रकृति को प्रेय के रूप में पा सकें तो इसमें हमारा श्रेय ही है।

डॉ मुकुन्द लाठ के गहरे, अनथक प्रयास से इस ग्रथ का प्रकाशन सभव हुआ है। डॉ लाठ प्राकृत और सस्कृत के निष्णात विद्वान होने के साथ कुशल कवि भी हैं। सग्रह के अत में 'अनुवचन' के नाम से उन्होंने अपने रूपान्तर पर और साथ ही वाक्पति और उनके काव्य पर एक विस्तृत विचार प्रस्तुत किया है जो पठनीय है।

इस रचना के लिये हम डॉ मुकुन्द लाठ के प्रति आभारी हैं। हमें विश्वास है कि पाठक भी आभार का अनुभव करेंगे।

देवेन्द्र राज मेहता
सस्थापक एव मुख्य सरक्षक
प्राकृत भारती अकादेमी
जयपुर

विषय सूची

बिछलता सोता बहा

तलहटी के बॉसवन मे
बिछलता
सोता बहा

चिकने, पुराने, बॉस के कुछ
गले पत्तो में बसा
भूरा,
मटैला-कत्थइ-भी रग,

पानी

सने काई मे, हरे, गॅदले
नुकीले पत्थरो पर

ठिठकता,
ठहरा
बहा

तिर रही वन की गध

तिरछी उड़ान

फुनगी से लिपटा
लता जाल

तन गया चॅदोवा
पेडो पर

रुँध गया
गगन का सहज पथ।

तिरछी
उड़ान ही उडते है
पछी
ऊपर की ओर
यहा

नई शरद

नई है शरद

घाटी मे
हरी है दूब

आने लगे है वो दिन

मगर

चट्टान की जो छाँह मे

भरपूर

कुम्हलाने लगे

सिन्दुवार

धीर पग
धरती
कमल की गध।

गाढा खिँच रहा मकरद।

खिलता सिन्दुवार।

शरद का
दिन दिन
निखर-उठता

उभार

चमकता दूब का पन्ना

जगल बीच खुलती
दूर-फैली
दूब की है थली

ओढे भोर तडके
घनी, गाढी, ओस की दोहर नई

कुछ जानवर निकले इधर से अभी

पॉवो से छिटक
छितरी जहा तक ओस -

- पन्ना -

चमकती है
दूब

सॅवरा
सवेरा

कस गई गफ

गध का गजरा
उठा लो

ठढ मे, आओ यहा

कितनी, न जाने, लताओ की
छन रही झीनी
महक

रस-बोझ गहराई
गठी, कस गई गफ

बाँधे हवा के
बध

मैनफल के फूल

दोपहर अब ढल गई है
महकते हैं
मैनफल के फूल। धौला रंग -
आगे।

पिछौंहे -
हलदी।
रचाये, लाल-भूरी छाँह

गोरी विरहणी के
फक-पडे-से
गाल

जाड़े का सिंगार

भीड करतीं, अनगिनत कलिया
घुमडतीं

झाड मरुआ का
नहाया-लाल-झाई-मे,
खडा

उजली, दमकतीं
खिलखिलातीं है लताये
कुन्द की

आ कर इन्हीं मे
बसा है सिगार

जाडे का
अभी

बहकती बिखरी बही

फूलते
कचनार।
सींके पके।

ले कर, लो, उडे
सारा पराग।

घुमड़ती सी भटकती है
गध

पागल हवा का
अनमन अचानक
उचटता सा है
सुहाग
बहकती, बिखरी, बही

जगल समूचा ही किया है
विकल
उच्छृखल
कहीं का

मोर / कोंपल / सूखता जल

कोपल -

पेडो पर नई लहक
भूरी, सुनहरी
चितहरी

चुप ही कब होते
यहा मोर

पर, उधर -
वही
सूखे पोखर का पाण्डुर तन

चितकबरा वन

कैसा घुमारा घेर

ढूठ सा है तना
बूढा हो चला है
पेड

बन्दर
किलकिलाते, चीखते
पल मे इधर, पल उधर
दिन भर उछलते है

घुमारा,
कितना बडा है घेर,
कैसा भीम छत्ता
भरा है
मधुमक्खियो ने

ऐठते से, तिडकते
इस तने पर

तिर रही वन की गध

सूरज / ताड़फल

सोने के रग की
चट्टाने,
सूरज का आ
प्रतिबिम्ब पडा।

किरणो की झिलमिल
मे लिपटा
सूरज -

पक कर जैसे
फल टपक गिरा हो
ताल-वृक्ष का
ताबे सा

अँखुए जागे

सोया था जाडे भर
जगल

अँगडाई ली है,
जागेगा।
राती, झिपझिप, अधखुली
आँख

ताबे की नई नई
कोंपल

डठल
डठल

ऊँट के तलुवे

मालुधानी
है लता का नाम

चौडे। खुरदरे,
ज्यो ऊँट के तलुवे
हवा मे घूमते
बल खा रहे
पत्ते

किनारो पर
चढी है धूल

बादामी। हरी

झरते खजूर

पहाडी की ढाल।

जागे, महकते
करमद के सौ पेड

पक रतनार
फल के भार
झरते खजूरो से

खुरदरी धरती

धूल-धूसर शल्लकी

शल्लकी के
दूर-उगते

धूल-धूसर
विरल पेड़ो मे बसा है
चीड का
सूखा-पडा वन

हाथियो ने
सूँड मे ले
गिरा दीं डाले
बचीं

ऑगन खुला

बूढे थे जितने
रोग-जडे
गिर, खिरे
पेड

ऑगन जगल का खुला

नये उग उमग
विकस छाये बूटे

वन को दे
उपवन की शोभा

तराई के वन

तराई के वन

यहा खिल उठा जैसे मन

मुखर सौ पछियो की कूक से

पोखर

लुभाने

बडे निर्जन वन
पहाडो तले

इन मे बस रहे
बादल सघन

नींद जाती उचट

गॉव बाहर

है बडा पोखर

वहीं सब
परेवो का घर -

सदा मदकाकली कल्लोल कोलाहल
निरतर मुखर आठो पहर

सोते नींद जाती उचट

मृगतृष्णिका

बुझा, पीला सा प्रकाश

बूद के उडते कणो का
तरल, झीना जाल
जिसमे उलझता, छा गया
जल पर कुहासा

आ झिलमिलाती,
पास उसके मुडी,
तिरछी हो टॅगी
सूरज किरण

पोखर हुआ

मृगतृष्णिका

जलकूकड़

झुरमुटो मे
नरकुटो के झाड़ -
पानी घुटने भर

जलकदम्बो घिरा पोखर
मुखर

जलकूकड
यहीं

मंथर निरंतर

बेत के झुरमुट।
यहीं सारस पुकारा
मत्त बिरवा का घुला स्वर

यहा पोखर के किनारे
चुग रहे मथर
निरतर

गायबगुले

थिरक जाते पात

फल विरल है कमल के अब
नाल जर्जर

कमलिनी
कुम्हला गई है

किनारे
पीला पडा जल -
पिघलते है पात

जब तब
छिटक जाते
छेड से

जलपछियो की

तीखी तनी

टूट फैले है कमल के नाल
उनमे से रिसा
रस

नाल से टपका, बहा
मिट्टी-घुला, गाढा-कसा रस

गध फैली
कसैली, तीखी,
तनी

उलझा, चला

वन-कुँई के
गझिन फैले पात,
चादर-से गुँथे हैं

बीच से
जलमुर्गियो का दल चला

उलझा, डिगा, सँभला, चला,
सब उछल छितरे पात

मॅडरा रही

जल तो ढका सारा

कमल के पात से

मछली जहा ऊपर तिरी
टकरा फिरी

मँडरा रही
कब की विकल

कुररी
विफल

सेवार

कुररी

घूमती -

मछली पकडती घूमती है
जहा

पानी मे उठाये सर
उगी है दूब

आगे, और तट के पास,
है
सेवार की रेखा

कमल की गध मे सरबोर

गहरा कहां पानी

पा कर लहर की थाप
आया हवा का झोका
थहर

गहरा कहा पानी
दिखाता बह गया।

डैने झटक
उडते वहीं पछी।

छिटकती बूँद से
आविल-हुआ-सा
जल

सूँड का सिरा

आ जमा है झाग
इन पर
कॉपते चचल हवा मे

वन-कुँई के पात -
चिकने पात

कुछ कुछ लाल, जड की
ओर

ऐसा रग
जैसे सूँड का हो छोर

नन्हे,
नये
हाथी
का

किनारे

ऊची नाल -

ऊपर सर उठाये
कुँई

थोडे पात -
सब जकडे पडे
सेवार मे

छिछला जहा पानी, किनारे,
तोडने उतरो
कमल के फूल

गुनगुनी घास

कमल-वन से
कछारो मे
कूजतीं, आतीं निकल
जलमुर्गिया

जब साँझ पडती है यहा -

जब साँझ पडती सुहानी
तब कछारो की गुनगुनी सी घास मे
उडते, फुदकते
मच्छरो के दल

जल का किनारा

चिपटा हुआ, सूखा पडा
मेढक मरा

कीडे घिरे ककाल मे
कौए घिरे ककाल पर

ये जाल से निकले, गिरे
सेवार, घोघो से घिरा

जल का किनारा

उठता झोका

झोका उठा
बहकी हवा।

जड से खिचे, थर्रा गये
सारे कमल के पात।

जल मे,
कमल मे,
खलबल। डिगे सारस
लहर-से सिहर कॉपे
पख

नाचे,
किनारे के
कास।

दुलकी चाल

लहराती हवा
झूमी
हरी इन लताओ मे
झील के इस पार

सारा, रेत मिट्टी का ढुलाया भार
पानी मे

हवा हलकी हुई है

चाल
दुलकी

इन्हीं मे झॉकती है

पोखर किनारे
कछारो पर
पेड की जड से लगे, चिपके, बिछे
. टूटे, कुँई के पात -

टुकडो मे थली
सारी किनारे की
इन्हीं मे झॉकती है

कटे पातो की दरारो मे
सिये है

मकडियो ने
जाल

नया पानी

टेसू के भीने पेड

झील के पास
जहा सूखा है कीचड
मौन खडे।

झीनी फुहार लहरो से
फिर, फिर उठती है

पत्तो के गहराते उभार को
देती नया नया
पानी

ठण्डक
ऑखो मे
करती घर

सुरभि / बोझिल गंध

कत्थई-से लाल,
जैसे खजूरो के बौर
फूले हैं प्रियगू लताओ के
फूल

हलकी, धुली, छनती,
महक

कण कण घुला जिसमे
कमल का
पक कर घना
मकरद

पैनी, पैठती, बोझिल,
हवा मे गध

कुम्हला गये बरबस

घिर घिर दल बल
उतरे
हाथी

खम्भे सा
पोखर का पानी ऊपर ऊपर
दस हाथ उठा

मथ गये कमल
रुँद गई
कमलिनी, विवश

बिखर
जलशायिनी

टटके फूल

टण्डी

महक-बुनती हवा
ले आई कमल-मकरद

टटके
जामुनो के फूल
झकझोरे, बिछाये
यहीं पॉवो पर
हमारे

पंछियो के खोज

घोंघे शख

घिस कर चूर
बिखरे बमीको पर

पछियों के खोज

खोजो मे नये
अकुर हरे।

चिकने, भीने,
चितले
बमीक

दूब

पोखर के तट झटकार अग
पानी पानी बिखराते है
वन के सूअर

कीचड मे उमगी

नई
दूब

अधखुली ऑख

घिरती सॉझ,
वन के अचानक
इस झुटपुटे मे, डराने सूअर
उठे कीचड तले से
जहा दिन भर लोटते थे।

विकट काया

जम पलक पर
सूखती, पपडा रही मिट्टी।
अधूरी खुली ऑखो मे छुपी सी
झाकती है

पुतलियो की कोर

कर्बुर किनारे

नरकुट तले
वेतस लता के बौर झर - जल
की सुरभि मे बसी
ठण्डी रेत

नन्हीं सीपियाँ -
चितली किनारे रेत

आगे रेत के
फिर दूब का ससार

लहर आई उभर

नदियो किनारे रेत
चिकनी रेत को बॉधे
नरम माटी
जहा कुछ कास
फूले है

लहर की मुहर
माटी पर

वहा भी लहर
आई उभर

धूपछॉही जल नदी का

छोटी सी सॅकरी सी
नदिया

गजे
बिछे
पत्थर
किनारे

रुक-गया-सा
निपट उथला
जल

जमा है झाग -
अनगिन बुलबुलो मे
ढल

तभी है धूपछॉही
तल, नदी का

जहा
नन्ही मछलियो का
तैरता है, तमक
चितला
दल

घास का यह छोर

हरे, उजले, फूट-निकले
घास के अकुर
किनारे

दूर
तक है घेर।

जल की बाढ छू जाती जहा
पकिल वहा है
घास का यह छोर

नदी उतरा बटोही

रेत बरसाती चली तीखी हवा,
फुफकारती

गॅदला किया पानी
किनारे का।

नदी उतरा बटोही
प्यास फिर भी
बुझा ही लेगा।
यहीं।

चौकते पंछी

सध्या

रेत के टीले।

किनारे, टहलने निकलो नदी पर।

चौकते पछी तुम्हारी ओर देखेगे
उचक,
गरदन घुमा।

दो चार डग भर
हट रहेगे।

सन्यासी के भगवे का रंग

पानी की धारा ने काटी पत्थर मे
शीतल, गहन गुफा

सन्यासी
के भगवे का रग, जैसे गुठली हो
पके बेर की
बहुत दिनो से
पडी
झरी

संन्यासी / भौंरे

पेडो छाई
फूलो रमती,
निर्जन पहाडी ढाल पर

हर गुफा गुफा मे घर
करते है
सन्यासी

मकरद-छके भौंरो ने भी
पाई, मनचाही,
यहीं
ठौर

सुर की ऑस

भारी, कॉसे का
बजा झॉझ

झकार,
गूजती घुमड गई

फिर एक गुफा से निकल, दूसरी,
गुफा
गुफा

घिरती अनथक,
लहरो पर
लहर उठाती बढती जाती है,
स्वर की हिलोर

थमने पर भी
है अभी ऑस

वहीं चिड़ियाँ

धान
के कुछ जगली
पौधे यही है

परिव्राजक
बीन कर ले गये दाने

बिखर कुछ फैले वहीं
जड पास

चिड़ियाँ
आ जुटी है

जहां ओझल शिखर

फैलता है
तला गिरि का
दूर, पीछे
और पीछे हट रहा है।

सिमटता सा उठ रहा है
ढालुओ की परत-ऊपर-परत मे ढल
चोटियो का तुग।

नीचे,
उजाले ने
पॉव कैसा पसारा भरपूर।

चढता है उजाला
अँधेरे की ओर
ऊपर।

अलख है
ओझल जहा
गिरि का शिखर।

पॅखुडी की लौ

निर्मल
जगमग,

नग से ज्यो नग
आ जुडी
शिला से तुग शिला

इनकी आभा से गगन लाल,
ले ताॅबे की
तपती झाॅई

खिलता
अनार का खुला फूल
पॅखुडी की लौ का
अनल रग

मोर का उलटा पड़ा सा पंख

ढक दिया है
कुहासे ने
चटख-रंगी
शिलाओं को।

रुँध गई
जब किरण -

कैसा झिप गया है
शिलाओं का
रंग

जैसे मोर का उलटा पड़ा हो पंख -
धुँधला, बुझा,
अनदिख

ऑखे फेरे / दिखलाती है

दिन मे भी
जैसे धुँआँ धुँआँ

उस ऊँचे दूर पहाड तले
धूँधर, गहरा काला
जगल।

चोटी से टकरा कर किरणे
उलटे पॉवो
ऑखे फेरे
मुडती सी

इसे दिखाती है

बूढे हाथी का दॉत

अभी थोड़ी देर पहले ही उगा था
चाद। चोटी पर खड़ा है।

दब गई उगते समय की दमक।

पीली,
कुछ-उभरती-लाल
हलकी छन रही है चॉदनी

ज्यो पक गया हो दॉत
हाथी का, बुढापे मे

वीच खडे पेड़

धीरे वढती डालो ने
पूरा लिया घेर

पीले, मटियाले, लाल, हरे
करते आपस मे होड, बढे

छतनार चढे, पत्ते पत्ते
गुँथ,
जहा तहा, बेरोकटोक
छाये, निखरे

जगल के आँगन
बिखर दसी रगों की चतुरगी माया

आ दीच खडे हैं
पेड

हिरन के सींग

बीच पेडो के खुला है घेर

धीरे, पैंतरा ले
जगली सूअर
परस्पर जूझते हैं

बघेरो से उलझते है
प्राण के प्यासे

यहीं जमता अखाड़ा

हिरन के भी सींग
कुछ छितरे पडे

लहू की ऑख

व्याध

सूअर के चला पीछे
लहू की बूद का ले
पथ

तीरों का सही था
निशाना

टटके लहू की ऑख
कैसी जागती है
खोज भीतर

दिखाती है
दूर जाते पॉव। घायल के

पत्थरों की खान

गढाई के पत्थरो की खान है
चट्टान का अनगढ पसारा
पहाडो के बीच -

गहरी, ठोस,
चट्टाने ठसी है।

कटा ढोका

खींच कर
नीचे धकेला
गूज उट्ठा
घम-घमकता धमाका

उछले शिला के खण्ड,
कण

गडमड, विकट
नीचे तला

धूसर हवा से जूझता है
शख-रगी
चूर्ण

कन्दरा में

कुरुविन्द शिला
की कन्दरा
मे सिह चक्कर काटता है, धीर मथर

कठिन कर्कश
धार-पैने बिछे पत्थर
कन्दरा की धरा ऊपर
झूमता है सिह।

नख पर नई, तीखी
सान

थोड़ी देर पहले

बिफर,
कूदा था,
अभी कुछ देर पहले

सिह
की नखरेख
ऊदी

छाल पेड़ो की
चमक डर जगाती है

फूट बहती
डस रही मद-गध

इन से वहीं कधे रगडता
अब झूमता
गजराज

सिंह / मधुमक्खियां

हाथी के मद सन गई सटा

जब किया सिंह ने झपट वार

सहसा
हाथी के मस्तक पर

अब झटक सटा

मँडराती
मधुमक्खी के
अनथक वार, हार
हटता, कतराता, दुबक रहा

विश्रान्त सिंह

थोडा सा
सर को
उचका कर
ठोढी के बल
पॉवो पर
धर

सुख से लेटे हैं
शान्त
सिह।

खिँच कर, लम्बी
पतली, महीन
फैली है
होठो की
रेखा।

पजो पर मुँह का
पडा भार
निकलीं बाहर
नख की अनियॉ

केवल देखती है

हथिनियो का झुण्ड।

बच्चे -
लताओ में उलझ, बेबस
चीखते है।

हथिनिया लाचार लौटीं।

झुण्ड की अगुआ
मगर
चुपचाप, केवल देखती है
मोड कर सर

हाथी सोये

वन मे, गहरे, इस ओर
टिठक रुक गई
हवा

सोया
हाथी का महाझुण्ड

घुमडी निद्रा की सासो मे
गहरी हलचल

उड उड बहके
मिट्टी के कण

आकाश लाल, पीला,
थमका। सहमा, कहता,

' हाथी सोये '

मरगजी धरती

यहीं हाथी आ टिके थे
पेड देते है बता

नोची गई डाले, इधर इस किनारे

धरती

दली सी
मरगजी

माटी उचाट

डाल से लिपटी
तनो से सटी
सूखी, गसी
गुलझट -
कटी बेलो की।

बिलाने पेड।

आये थे शबर।
धरती यहा की खोद डाली
कद-मूलो के लिये।

गड्ढे पडे।
माटी पडी
कैसी उचाट

सॅभल कर चलती हवा

ऊपर से नीचे
बही वेग से हवा,
सॅभल,
वन के ऑगन

झरते,
सिकुडते,
बिखरते,
पत्ते -

बुहारे, बटोरे
पेडो तले
जड पास।

बस, इन फुनगियो पर
जहा से उतरी हवा
झन-झनक उठते
झरझरा कर
पेड

हल का लोहा

जगल का छोर
उजागर है

दिन दिन भर
धरती के भीतर
धँसता रहता हल का लोहा।

काली, कर्कश, लोहे के रस,
हो गई टहनिया झाडो की
जो मेड़ पास

जंगल के पथ

वन के ऑगन
बालू की छितरी थी चादर
ले गई उडा कर
चक्रवात

दिन दिन भर अब
अनथक बयार
मिट्टी ढो ढो कर लाती है

पगडडी पर
घर धर जाती

जगल के पथ
भर गये सुढर

बरसात की मुहर

घिरी, उडती रेत
उठते बगूले

सज सज गये पगडडियो पर
रेत के कण,
गोल, उभरे, भरे,
चिकने, चमकते

अब झिरमिरी बरसात,
बूदे बिछाती है
मुहर अपनी लगा जाती
रेत कण पर

छाया

सॉझ उतरी

घिरी छाया

गोद मे, धीरे
सुलाया, घास को।

पगडडिया
पीछे
नगर को, दूर
आई छोड़

वन के इस किनारे, गीत
ग्वालन गा उठी है

अचानक महक

चैन मिलता है यहीं मन को।

खिले हैं आम,
आमों में बसी
आई हवा

लाई अचानक
कमल की भी गंध

दुरंगी पगडंडियां

जगलथली।
पगडडिया।

इन पर ठहरता,
बहकता
बरसात का पानी

छनी,
झीनी परत मे बिछ गई
काली चमकती रेत
जिस पर उजागर, ऊदे हरिन के
खोज,
बादामी।

दुरगी
झिलमिली पगडडिया
बरसात की।

छॉह बैठा देखता है

बटोही
देखता है

छॉह बैठा
सेकता है ऑख

वन के इस किनारे
ऑख के आगे खडे ककोल
दलहन के कहीं कुछ झाड

चारो ओर छाई
इन मचलते
बन्दरो की भीड

छरहरी कैसी दमक

सास ली है डाल ने -
हलकी हुई

फिर उठी
तन

सब सोख
भीतर कर लिया अधपका रस का भार
बोझिल,
झुकाता

खिँच, गठ गया है
तरल गूदा
पक गये है, भुरभुरा कर
बेल

कैसी छरहरी है
दमक

जैसे प्रिया का होठ

कितनी गुदार
नारगी, रस की भरी
छकी

बादामी-ताबा-लाल चटखती फॉक

त्वचा ऊपर, महीन
रेशे
छिलके से उपड
उभर सुकुमार
डोर-से कसे।

गसी, मासल, उपची-सी फॉक
खरी गदराई है ज्यो होठ

पथिक ने
अधर मे धर, प्यास भर, यो पिया, जैसे
प्रिया का ही
होठ

कसैले मुँह / तृप्त

सौधी,
भुने जौ की गध,
ईठा, मुँह-पकडता स्वाद

जगल के किनारे, कुआँ

फूले कनेरो की छाँह मे
उजला, झमकता, जल

बटोही, कसैले-मुँह पी रहे है
तृप्त

मुख-बसी मदिरा

झूमती,
लहरी,
कसैली गध, नीचे
कदम्बो के

कामिनी के मुख-बसी मदिरा
जडो को सींचती है

चटख कर जो लाल थे, रतनार,
सींके खिल-फूलो के
पडा है रग फीका

तभी, ठंडक का उभरता पुट
कदम्बो की महक मे

नाचता है खेत

टोली मगन वन-हिरन की
भागी हहर

सब रौंद डाली मेड
टापो से
कही औंधी
कहीं सीधी
कुलॉचे भर

हरा पन्ना

अभी जौ पर खिला था
बालियो का रग
ढलता जा रहा पल पल निखार

लहर लेता नाचता, पर
खेत अब भी

हवा थिरकाती बही
खनकी निथर

गायबगुले

धातुओ के रग से देवस्थली
ऑकी किसी ने
यहॉ धरती पर

जहा है छोर जगल का।

पडे है झुण्ड भैसो के
वहीं

धौले
चमकते
गायबगुले

जंगल किनारे

जगल किनारे, पोखरो मे
पैठ रहते जगली भैसे

कसैली गध, गोबर की
घुली जल,
आ मिली है खार

तीखा, मटैला, काला,
कटीला
जल

उपले उठाती लडकियां

ढेर गोबर के यहा बिखरे पडे
जगल किनारे
गाव वाहर -

पटी इनमे खार।

इनको छोड जाती है यहीं
उपले-उठार्ती लडकिया

ढेर गोबर के

जंगलथली
भूरी

यहीं पर गाँव के कुछ ढोर
आ कर बैठते हैं कभी

सूखे
धूल मे लिपटे, सने, बिखरे पडे हैं
ढेर, गोबर के

जहां अनजान उठती जाग
मन में हूक

भैंस का कंकाल

भैंस का ककाल
घेरा सियारो ने

डर गये कौवे,
उडे

आ जम गये थे
गीध,
छिटके
दूर
जा

झड़े पात के आक

चूहो का
थल है
यहीं -
कहे देते है बिल।

धरती जर्जर।

मिट्टी के खोदे-खिरे ढेर।
पड गये ढूह।

गड्ढे गड्ढे, धँस रही दरक
धरती उपडी।

दो चार बचे है
झडे पात के
आक

कैसी पसीजी धरा

•

भूरी-मटियाली-नील-छॉह -
पेडो तले कैसी पसीजी है धरा

पिघले फूलो की ढेरी मे
घुलती मिट्टी
जिसमे रपटे
तिनके, झरते।
लिपटे,
बुरादे रवा,
रूखी लकडियो के।

लेप सी,
थुलथुल पडी
पपडा रही है
धरा

दो दिन पुराना हो
सूखता-सा
ढेर
गोबर का

वन की गंध

चल, उत्तर से -
उत्तर-गिरि से

वन की बेलो का ले पराग
छाई बयार

आकाश कर दिया

वन-गधी

हवा के हाथ

हवा के नटखट
अचानक उठे हाथो
ताड पर लटके, सुरा के
फूट बहते
भाड से

टपका, लसीला
रस।

फिसलती डाल पर
बदर
रपटता, डगमगाया

चाटता है
स्वाद से अब
हाथ,

दोनो

पल में अँधेरी रात

गॉव से उठता
धुँआॅ
इन झुरमुटो मे बस गया है -

पहाडी की खडी सी
दीवार ऊपर, रीढ पर।

झिपते, लुभाने, धूम-धूसर
झुरमुटो मे
रात का पहला, अधूरा झुटपुटा

भी
गहर,

कैसा अचानक गभीर
पल मे।

इसमें ही क्यो

इसमे ही क्यो
रमता है मन ?
इस खँडहर मे

पेडो ने
घर ऑगन ढाये
कब का उजडा ही पडा गॉव

रहनेवाले सब बसे दूर

कौवे
दो चार
कभी, अब भी
आते है, देख चले जाते

धूॅएँ की चादर, फीकी सी
उड रही पास -
कुछ ढोरो साथ
गडरिये है

मन का पड़ाव

वचे फल पा
आपे से बाहर हो
उछले

थोडे से घर का,
निर्जन-सा, ये गॉव
बसा है
जगल मे

सुथरे,
सुडौल,
लकडी के घर।

मन का पडाव भी
इसी ठॉव

भैंस की ऑख

पहाडो की ओट
ढलते
सूर्य को, दिन डूबते

कीचड तले से उठी
पूरे, निरे, सुख से
मुँह उठाती

देखती है
भैस

कदम्बों के तले

काटे गये।

थोडे बचे है
　　　　　पेड।

जगल मे, उधर
　　　　पक, फलभरी
　　　　अनगिन, घनी है
　　　　　　　कमलिनी।

कुछ कदम्बो के भी पके फल
　　　　　बिछे ऊदे, मटैले -
　　　　　धरती हुई काली-कपिश

इन्हीं के बल सुरा

नये धव के पेड, धीरे, जूझते से
बढ रहे है - कहीं बौने, कहीं पौने,
एक दो मे ही कहीं पूरा उठाव

छिली खाले
खोखली, ढिलमिल जडे -

हारे खड़े है

इन्हीं के बूते, मगर

तीखी, कसैली, सुरा की पागल गमक है
तलहटी के सभी गॉवो मे
यहा

सूना शिवालय

गॉव से लगती
पहाडी के तले
झुरमुट घना

ऊँचे, सघन है पेड,
लहराते, गझिन, छतनार

सूना शिवालय

शिव-लिग को, श्रद्धा-भरा,
आया पथिक
नहला गया है अभी

जल के कुण्ड मे
सौ पुरुस गहरा जल - झरे पत्ते
नहाते हैं सदा

तिर रही
वन की
गध

पेड़ों का आपा

ज्यो ही बसत आया
कैसी
फूटी है
टहनी से कोंपल।

एडी से चोटी तक, नखशिख
जागा है पेडो का
आपा

खिल, पोर पोर है
लाल चटख

ओझल,
भीतर का मर्म, छद,
बाहर की ऑखो मे
झॉका

विह्वल, मुखर

झर,
विरल होते, हरे, चिकने,
बौर -
फल में ढल चले हैं आम

लो, फिर विकल, विह्वल,
मुखर -
कोयल का
सधा स्वर

लौट फिर आया वसंत

नौरंगी

त्यौहार

मगन है
ऊचे घर की बहू
नई नौरंगी मे इठलाती है

बन-ठन कर चहक रहे बच्चे
गाजे के दिन हैं
गाँवों में

सूनी आँखों से देख रहा
कोई निढाल

गोरोचना का फेर

हल्दी-रचाये गाल
द्राविड सुन्दरी के -
आम पर ऐसा घुला है रग

गहरा हरा,
नीला खरा
उस पर चढा
पीला-चपई
गोरोचना का चित-चुराता
फेर

पूरे झुक गये है डाल से
आधे पके,
पर रस-बसाते
फल

मकरंद

झूमते
मॅडरा रहे कुछ यहा भौरे

आम के मकरद की बूदे
छिटकती छर्नी
इन पर ही, गसीली,
आ टिकी है।

भीड भौरो की इन्हीं को घेरती
गुजारती
पी रही ऋतु की सुरा

उडे भोर

खिलता सवेरा।

कमल।

इनको जगा जाते
चूम
उजले हस

बर्बर भॅवर
अन्दर कमल
बरबस कर बसेरा, रात भर

अब उडे
माते, भोर

गिर गये सहज

रस-भार उपचती,
ऊदी सी
पूरे उठाव पर शिथिल बध,
फल क़ी डठल

कुछ और झूल कर
झुके,
खिचे
डठल से ढीले हो
ढुलके
फल आमो के

पक
गिरे
सहज

कुछ पुराने फल

कदम्बों पर नये
हँसते फूल

अब भी पुराने कुछ फल
वहीं छिटके
टँके हैं

नये पत्तों से खचे
दुगुने घने, चिकने
पलाश

छाँह में
फिर मोर बोले

छका सा है खेत

गदरा रहे दाने

उमग
हौले
हटा दीं बालियो ने सींक, सूखी, पुरानी

जौ मे कसा है, कसमसा
फल का पकाव

पास मेडो के, सुनहरा,

छका सा है खेत

बॅसलोचन-सा

हरिणो के खुर कुचले
कचूर

- बढिया, पौधो की खरी जात -
उडता पीला सा फुरा
चूर्ण
बॅसलोचन-सा
जो कटे बॉस से अभी ढरा

सोया पथिक

लिग के अभिषेक जल से

शिवालय शीतल।

महकते कदम्बो के,
अर्जुनो के
पुराने पेडो घिरा है शिवालय

तपती दुपहरी घाम की

सोया
पथिक

फुनगियों पर अभी

झुक झपटती
कौंधी हवा
तिरछी वढी
जगल समूचा
नापती है
आग

ऊपर फुनगियो पर चमचमातीं
नाचतीं लपटे, अभी

नीचे
घने मे
उतरते
कुछ तो लगेगी देर

सूरज-चढे गोधूलि

आग का काला धुँआ
गाढा टँगा
आकाश। जिसमे बस गई है
धूल।

धूसर अँधेरा। ताँबा,
पिघलती दिशाये। गोधूलि -
सूरज के चढे

आग की है गंध

तमक उभरी थी भयानक आग
अब तो बुझ गई है।

मगर
लौ की गध
पेडो मे बसी

नीचे, तने की ओर
झुलसे,
सुन्न,
पेडो के तले, तप
अभी, दस, तैयार
ईटो का, बनीको पर
खुला है रग

ईधन पूरा पा गई आग

दावानल मे जल
राख हुए, ढह गये
टूट

पर राख हुए भी तने यहा
पेडो के, कैसे
तने पडे -

लम्बे, विशाल
ऊँचे तरु थे

पूरा ईंधन
पा गई
आग

आग से अछूती भी

जल गया जगल
समूचा

इधर आकर,
रुक गई थी आग
इस कोने

न जाने किस बहाने

यहा वैसी ही खडी है
घास
अब भी

वही पीला,
वही फीका
रग

मोथा

इस ओर, यहा
धरती तिडकी

ऊबड खाबड
मिट्टी के
रुखडे खडे
डले।

सूखे, पीले,
पतले, झीने
गुच्छो मे ऊँची खिँची घास

नीरस
मोथा

कहां ठण्ढी छॉह

साँझ तक
दिन भर तपे है गॉव।
घमकी हवा ।

लपटे उठीं
भट्टे जले

इस गोधूलि मे

ऊपर अधर ठिठकी, टॅगी है
रेत

पेड़ों तले भी अब
कहा ठण्डी छॉह ?

संध्या

धूल के बादल घिरे रहते
समूचे दिन

मगर सध्या
सुघर।

दिन तप रहे है,
रात पर आधी निकलती जब

हरिण तब चैन पा जाते

तप गये दिन

गहाई के दिन गये।
दिन भर घनी धारा -
बरसता, बिछ रहा है
भुस।

नहीं तिनका बचा है
हरा,
सूखे, लाव-तपते घाम मे

धरती तिडकती, तिलमिला।
ऊदा तला तालाब का कब का
फटा।

मॉदे, थके, मुरझा रहे, दो चार
उग भी रहे होगे कहीं
अकुर

कौन जाने

उत्कण्ठ मोर

गरमी की चिलचिल से
जागी
सोये जगल मे भी
कपन।

दोपहर ढले
आलस-निढाल
उत्कण्ठ
मोर।

हरियाली मे भी
कसक,
अनी।

पहले बादल का गीत

तपती है गली गली,
नगरी

आकाश सजल
बादल के दल

ऊपर शीतल,
नीचे साँसत ही साँसो की

लाई बरखा

प्यासे हिरन

एक बरसा मेह।
अब भी तप रहा जगल।

सभल, धीरे छुलाते मुँह
विकल, प्यासे हिरन -
छिछला भरा, बहता
सतह का, अभी ठढा,
पी रहे पानी

सहम

आने लगे बादल

हवा ठिठकी।
घमाका। दम-घोट
घाम मे
घुमड आये मेघ।

सूरज -
बुझा, फीका, मिट गया सा।

धुल गई आकाश की जब धूल
तब धूसर घिरा है
धुँधारा।

सॉझ, बादल

बीते नहीं दिन
घाम के

पर, सॉझ, बादल
हवा का ले हाथ
आने लग गये है

दूब-लिपटा
सजल, कोमल
पहाडी का है उभार

स्पर्श से

पास चल आये पहाड़

धूल सारी धुल गई
आकाश की।

अब मेह की हलकी झडी मे
इधर चल आये पहाड
ऑख के कुछ और जैसे पास।

घनी, काली शिलाओ पर
और श्यामल फेरती है

तूलिका

बरसात

उठ उठ कर बैठ गई माटी

तलहटी की इस थली मे
घाम अब भी जागता था।

उधर, चढती पहाडी की सीम ऊपर
कुछ उभरते अकुरो की
खुल रही थी आँख।

पहली घटा बरसी।

मोतियों सी झरी -
मोटी बूद।

तप-कर-सूख-कर-पपड़ा-रही, बलुवॉ धरती
तिडकी,
छींटो में उछल पडी।

उठ उठ कर
बैठ गई माटी।

गन्ना

पानी नया
कैसा चढा है
एक ही बरसात में

धुल गई मैली
रेत की पपडी - जमी थी परत।

पीले,
घाम से
छीजे हुए थे खेत।

बादल की अकेली ही झडी में

खुला पन्ना

हरा-नीला खिला
गन्ना

मेह की हवा

उद्ग्रीव मोर के नचा
मौर
टप टप टप झरते
जामुनो की हुमकती ततकार खींचती,
उमग, नाच, पत्ते पत्ते पर, लहक, बहक, बिखरी

बादल से उठी हवा

साँवल

जल से कुछ बोझिल
झुके
मेघ

गरजे
बरसे
मोटी बूँदे, तीखी फुहार

भीगे
ढेरों
धूसर पलाश,

टुकडो मे हो कर चूर
बिछे।

साँवल धरती

हाथी के चितले कान

दल दल छितरे
पल मिले, दूसरे पल बिफरे, बिखरे
अध-बोझिल मेघ

अभी
गहरायेंगे

गाढी सॅवली है बीच देह
बाहर धौली
हाथी के जैसे कान

बूढ़े चिड़े का गला

नये अँखुए सींचते
मँडरा रहे है
नये बादल

घेर कर आकाश, चचल
घूमते है
व्यस्त

ऐसा रग
जैसे गला बूढे चिडे का
कजला रहा

गूलरों के वन

बादलो के साथ आई

जगलो मे
झूमती
झकझोरती है
गूलरों के पेड

ऊदी हवा

गूलर तले
फिर से हरे
अकुर फूट, उमगे
ठण्ड मे

पानी-भरे, पर, गूलरो के फल
विरस, पानी-ढले

बरसात मे

घास के बीच बीच

ढलता सा पर्वत का उभार
वन जहा सघन

ठडी सॅवरी छाया पसार
गुॅथ रही लता से लता -

- जाल -

उग रहे घास के बीच बीच
हलदी के हरे,
खरे पौधे

कसेरू

फट गया

पत्थर-ढला
पोखर किनारा।
वहीं जड करते
कमल के नाल
डूबे।

नई बरखा का हरा
पीला, घुला, जल।

कसेरू छाये -

चमकती, धूप-सेती, लाल
उजली
जडे

चंपई हैं गॉव

जिधर भी देखो, बिछे है
अरण्यानी-घिरे
उजले गॉव।

बरखा -
फेरती है सधा-सुथरा रग,
इन पर

हरे गाढे जगलो के नील पट पर
चपई,
उघरे सुनहरे
गॉव

तीतर तीतर

•

देखो,
घर की छत से देखो
अब देखते ही बन रही है छटा -

गॉव सीमा पर सघन
हिसी के झाडो का जो वन
उसमे गहराई नई लम्बी घास
- वरणक -

अरे तीतर

जिधर देखो उधर तीतर
दौड रहे बौरायें,
अपना ही पीछा करते, सरपट

तीतर
तीतर

भीतर-बाहर

धूप की भीतर भीतर
आँच।
तप रहे खेत
गॅठ रहे दानो मे।

बाहर - बरखा की बूँद
टॅकी।
बाली बाली - मोती पहने लहराती है।

पौधो का गहरा हरा
उडा
चढ रहा सुनहरा रग

गॉव के छोर
खेत की धरती पर
पानी ने फेरा
बादामी

कछुए के नन्हे बच्चे
की सी
पीठ

झोंका

अब पडी बरसात।

आँधी जगाता, झकझोरता
पूरी दपट का उठा झोका

हिला,
जड से फुनगियो तक पेड

गिर कर घोसलों से
फूट बिखरे
नये अडो के कलल को
फुहारो मे उडाती
कुछ रेत के
सूखे बचे दाने
घुमा कर फेंकती

उद्दण्ड, आई झपट, मेघो मे नहा, ठण्डी

हवा

कैसी महक

तले पेड के
पडे धूल मे
सूख-सिकुडे मौलश्री के फूल
ढेरो। धूल ऊपर धूल।

पानी
अचानक बरसात का

जागे गमक कर
फूल।

चौकी, घुमडती, खिँचती सुरा

लसलसी, दूभर

गध

तैरी अचानक गंध

अब यहा
भौंरे कहा ?
निर्गंध जामुन के
निझर, नीरस तले

पथरा गईं है गुठलिया -
बिखरी पड़ीं।

डूबीं झपटती धार मे बरसात की।
तैरी कसैली गध।

बरबस हवा मे चकरा फिरी -
तीखी।

अचानक चुभी,
चौंकाती
कसक

निथरती बरसात

लू,
ले गई उड़ा
सब धूल।

उतरी निथरती
बरसात।
धुल कर खुली, नीली दूब।

धरती -

निडर कछुवा खोलता सर

महकती अल्हड़ हवा

तपे ताबे-से
पके फल -
बेल के।
सूखे,
बिछे,
फूटे विरस।

अब रस-पसीजे भीगते है
गध की थाती लिये।

बरसात की अल्हड हवा का
महकता वन मे
सुहाग

बुलबुले

लहक
पानी की बहकती, तनी चादर

पुराने है जहा गड्ढे
जमी टटकी घास
भूरा, मजीठी, कुछ हरा
गोबर-घुला पानी
भरा ठहरा

आँख

जागी बुलबुलो की
धूपछाँही

चमकतीं
जागीं, चितैली
मछलियाँ

नया परिवार

कुछ कीचड कीचड गड्ढो मे
पानी नया बरसात का।
मछली नई -
पूरा नया परिवार।

पहली मछलियो की रगड।
मिट्टी-सना तन
थक, अचल सी
कीचड-फॅसी है मछलिया
मुॅह गोल, नन्हा
खोल
कैसी उखडती सी खींचती है सास।

कब तक चलेगा
बरखा-पला, इन नयो का ससार ?

मछली दूभर

सूखे मैले सेवारो की
पकडी चोटी

ले चली बहा

भॅवरो पर भॅवर
उठाती है

मटियाली बहती है
नदिया

घटो साधेगा
जल-कूकड

मछली
दूभर

बरसात ने हॉका

दौडती ही चली
जब बरसात ने हॉका
नदी को

धार मे निरधार बहती मछलिया -
सब बीन कर ले गये बगुले।

तीन तेरह घाटियो की बही मिट्टी।
एक चुल्लू भर न पानी पी सकोगे

देख लो चाहे उतर

अनथक बरसता दिन

खलिहान से उडती,
बरसती
रेत से,
भुस से, पटे है

तपे
रूखे
गॉव के ये घर।

गमकती
मास-चर्बी की अटी है गध -
उमगे, हुलसते है घर।

झडी - बरसात की
टप टप, निरन्तर, एकरस

कैसी जगा जाती
लहर।

•

जुगलबंदी गंध की

अँखुए चिहुक अनगिन उठे
बरसात-पागल वकुल वन

आ जगली भैंसे
बिफर जाते यहीं

रौंदे, दले, इस वकुल वन की
भटकती उन्मद अयानी
गध
शीतल कदम्बो मे भीगती है -
फूल-गदराये,
लहकते कदम्बो मे -
छनी, झीनी, सयानी जिनकी महक

इस पहाडी की रीढ ऊपर
विकट
अनबनती बनी है जुगलबदी
गध की

मेघ-जागी पुलक

मेघ-जागी पुलक का
उच्छ्वास - वन में

कछारो मे
ढोर अब चरते नहीं

पगडडिया

ऊँची, घनी, आटोप-उमडी घास मे
ओझल हुईं

वन, विकट तन
शोभा, कठिन, खर-धार
ऑखो मे अनी

दिन भर घटा

मेह के दिन, सवेरा

दिन चढ़े
पहरों ढले
लगता
अभी ही तो दिन उगा

फिर
दोपहर को लाँघती
आती अचानक
साँझ

उगते बीतता है दिन
कभी बरसात का

भीगते इस नगर में

डूब जाता है गजर का स्वर
गरज में मेह की
तीखी झडी मे
भीगता है नगर

भगवा सा, कुचैला चीर -
ऐसा रग धरती का हुआ

कीचड-धँसी, गधा रही

-

खुल गये दांत

पानी में घुलती काई से
चिकना पडा ऊचा किनारा
बाव का

दिन-रात बहते सोत मे,
ढलवाँ ढला, कीचड-घुला
गिलगिल हरा है रग

नीचे पॉव के -
ढीली हुई है
धॅस गई दीवार

ककर उभर आये

दॉत बाहर निकाले
जैसे खड़ी

खिसिया रही

गिरि-सरित बरसात की

हरे पौधे
बूटिया
कितनी उखाडीं

गध से उनकी लिपट
बिफरी नदी बरसात की

हिम का है जल
हिम सा है जल

भॅवरो मे
धरती
ऊॅच-नीच सब नाप
चली हहराती, बल-खाती, पागल, बेरोक
पहाडो की
नदिया

अब किस पर बरसती है

रेगते है
नये अँखुओ की उजागर
शिखा ऊपर
कीट

घुलती,
बिखरती जलधार

बाहर, गॉव की सारी थली
कीचड

इधर इस खेत मे
इकतार
टीवीटिट
टिटहरी
चीख उट्ठी

अभी किस पर बरसती है ?

बरखा / चन्द्रमा का अहंकार

गगन
कजरारे, तने
पागल हुए से घूमते
बादल

झड़ी
तीखी हवा-हाथो पडी
बिछ गया अर्जुन-वन।

सघन, मेचक, अँधेरी रात
पानी में
बुझा सा चाद -

धुल, सारा बहा
लगभग
पुराना,
कनक-जगमग
अहकार

दूर ही से

डाल-तिनको का बिछा जजाल
पेडों के तले

दो चार अगुल गुनगुना पानी -
मटैले घुले गड्ढे, चिमट, गँदले

दूर से ही है भला

जगल अभी

चमेली

निरन्तर बरसात मे भीगी चमेली
जल-पसीजी पखुडी
पिघला पराग

दुहेली, मीठी, कसकती, गध
पकने से पहले पकी कली

मरगजी
झरी

गदरा रही है वनथली

घने, गुँथ कर उपचते से
पेड।

उमगी दूब -
तिल तिल
छा गई

गदरा रही है
वनथली

जगल
छलक कर
और जगलमय हुआ

नदी तीरे

नदी
गहरी
भरी
लहरी

तीर,
ठण्डी छाँह के छतनार
पीपल तले

बैठा बटोही

सौ कूजते पछी - सुरो में
सो गया

बिन बादल भी

औघड, ऑंधियारी, सजल
रात

बिन बादल भी
फीकी, बुझी है
चॉदनी

उचटी हवा
बरसात की

जलथल सारा
पानी पानी
तारे, सारे ही
गये डूब

बादलों पर आँकती है

गई जब बरसात।

पानी
बह गया है।
खुल गई
पगडंडिया।

पर, रात -
बिजली
बादलो पर
आँकती -

जलपछियो के
धीर, अनथक
पंख

मच्छर सतत

थमी जो बरखा
कुहक सी
साँझ

जाने किस गहर मे
डुबाते आकाश को
ये आप-डूबे, जग-डुबाते, रग।

उनमन,
नदी का निर्लिप्त स्वर।

पर रात

जोडा खा रहे मच्छर सतत
भनभनभनाते
थली मे

महक माटी से उठी

खेत के इस छोर
पानी की चली थी धार

उथला, पडा है
हलका कटाव

घुला, पीला भरा पानी
धान, जडहन

उधर हल के कूड़,
मोथा कट दबा है

महक माटी से
उठी

धवल कबरी गाय

मोह,
टोना जगाती है
अरण्यानी

लहक, जागे पेड

धीरे उतरता है अँधेरा
बरखा झडी
चुप।

लहर ले सिहरी हवा

पगडडियो पर
धवल कबरी गाय

बरखा जोबन

सोत-रेतीली, सुनहरी नदी
तट पर
कदम्बो की
गध-भीनी
हवा

- पर -
बादल बिना

कुम्हला रहा बरखा जोबन

मोरपंखी गगन

नील के ऊपर अचानक
निखर आई
हरी गाढी
एक ऊपर एक, सजती
इन्द्रधनु के
अकुरो की
पॉत

लौ मे बसा
जगमग रग

रग रग उमग, डैने खोल

नाचा गगन
जैसे नाचता है मोर

इन्द्रधनुष

क्षितिज तक, आगे
हरी, बरसात-उजली घास।

नीला, खुला जब आकाश, तो
इस घास से उस घास तक
आकाश पर तन, घिरा पूरा

इन्द्रधनु-
मण्डल

उडा बगुला अचानक
लगा जैसे सातरगी बाड भीतर
विचरती है गाय

अमराइयां

हवा
ढूढे भी नहीं
मिलती कहीं

दिन जो गये बरसात के
दुगुना हुआ है घाम

ये अमराइया

कुछ साँझ को जाकर
सुहाती है
कभी

रखवाल

जतन से बॉधी
चॅदरछत

तले लालन से पले
कोमल सरस फल

- राजककडी -

अब बिना रखवाल
शोभा हुई माटी

बाडियो मे
फक पड़ी है

उलझ-हारी, धूल-बिसरी
बेल।
लथपथ बरेजा।

शेषनाग के फन अनंत

सागर का तट

धरती का पन्ना
सागर तक खुलता
आया

फिर आगे हाथ बढा, बोला -
' अब आगे सागर का नीलम '

जगमग सागर की लहरो मे
मणिधर अनत के अनगिन
फन

वनराजि नीला

मिल गले पेड से पेड,
अडा कधे से कधा, तना तने के सग,
सघन सागर वेला -
गुँथ गहराये
खजूर के वन।

तमाल-गाढा ,
नीला-सँवला,
उभरा, पैना, गठता,
रेखाओ का अनत

ऊपर
पत्तो की घेर-घुमर
काली। छतरी।

सुपारी के बौर

आते-जातों के कपडे
तक
राते राते।

तट लाल,

लह लह, सुपारी के बौर -
झरते हैं निरतर

गध सौंधी-कसैली।

धरती चटखती लाल -
दिप दिप लाल

दिन मे भी उभरता साँझ का

अबर-डबर

नाच उट्ठे नारियल

पक गये है नारियल के फल

कठिन,
कस कर गठा है सार
भीतर का

जटा मे बट रहा है
झुरा, झॉझर
खोल

पर जब नाचता है हवा की अठखेल से
ये नारियल का वन

ठुमक कर झनक उठते
नारियल के फल

थर्राती हवा

ताड़ो के पत्तो पर
तरतर,
थर्राती, गाती
चली हवा

घासो पर पक आये जो फल
उनको डठल से उड़ा

उडी

निष्प्रभ, धूसर इन्द्रधनुष

1

ज्यो निष्प्रभ, धूसर
इन्द्रधनुष
बीहड मे खँडहर
राजमहल

भटके भैसे का खुर
पल भर
कुछ चमक पुरानी
जगा गया

2

अनजानी जगल-बेल जडा
उखडा, रुखड़ा -
बाडी का सँवरा
सुघड पेड।

छाया पहली सी
दिखती है

भीतर झाँको
जगल का मन

3
जो कलियो तक ही बढते थे
खिलती बाला के बालो मे
खुल केशर केशर चटख
फूल

अब फल तक पक, बूढे
ज़र्जर
झर, सूखे पत्तों मे
दुबके

4
छत
ऊॅंची ऊॅंची
ढही,
कहीं फट
बिखर गई दीवार,

घास -
ऑॅगन में सूख रही
सूनी

ऊपर आ यहा बैठ देखो
कल रगमहल
अब
निर्जल, तपती
बाव

5
भोर भोर
सूरज अगोरता, जीर्ण
सरोवर का विषाद

नीचे सूखे मे
शखनखी।
तट पर आ भटकी
महक

साथ अनजाने लाई
कब की खोई
कमल-गध

6
झूले बँधते थे यहा
डोर अब कहा?
गाँठ फिर भी पकडे है
डालों को

नीचे
पीली है घास
उचटती उगती है

उनके मँडराते पाँव तले
जो झूल चले

7
गाढी ईटो का शोण चूर्ण
पहले के जौहर सा छाया

गुणगान
यहा होता था
पिछले राजा का

बूढे सॉपो के
विचरण का
अब यही छोर

8
कीचड कीचड की आरपार
बिँध गई
सेध

पूरी गहरी दीवार
इधर से उधर नाप
कॅचुली फॅसी है -
झूल रही

बचा ही था पर
अभी सॉप

9
घिस गई कहीं
कुछ टूटी भी है, इधर उधर -
थोडी ही पर

जगल ने कम छेडा इसको

गाढे गाढे पत्थर चुन, चुनी
सुढर, चौडी, गहरी
रथ्या

पथ है प्रशस्त
पर कहा, कौन जाये
किस घर ?

10
अब धुऑ नहीं उठता
न धूल झडती
बाहर

घर बियाबान

दिन ढलते ढलते
रात
निगल जाती पथ को

घर करता
बेघर अधकार

11

खिर
बिखर गई
खिडकी पर
पत्थर की जाली

अब और उजाला है भीतर
अनिमेष, स्तब्ध

दीवारो की झीनी छाया
मे खुभी डूब
खभे की काली
कठिन छॉह

12

दिन का सन्नाटा।

चुप के छज्जे पर
सहसा
कुछ गिरा

रोगटे खडे कर गई
हलकी सी आवाज़

प्रेत है ?

अनुवचन

अनुवचन

कविताओं के साथ कहने की कुछ बात होनी नहीं चाहिये। पर *इन* कविताओं में एक अलग सा दोहरापन है · ये एक साथ प्राचीन भी हैं और नवीन भी - आठवीं सदी की भी और आज की भी; यशोवर्मा के सभाकवि वाक्पतिराज की भी और मेरी भी। बात विवेचना चाहती है। यहा नवीन क्या? प्राचीन क्या? इस पर कुछ चर्चा उचित जान पडती है। पर टिप्पणी जैसा ही कहूंगा - इतना ही कि सग्रह के काव्य को निर्मिति और तत्त्व की दृष्टि से एक परिप्रेक्ष्य मिल सके। पाठक के बोध को एक सहारा।

पहले 'नवीन' पर कुछ कहता हू ।

ये कवितायें वाक्पतिराज के **गउडवहो** से ली गई हैं, जो आठवीं सदी का प्राकृत भाषा में रचित महाकाव्य है। कवि और उसके इस काव्य की चर्चा आगे करूँगा। कविताओं पर अपनी इस टिप्पणी में पहले अपने ही प्रयास की - अपने ही इस प्रस्तुत 'नवीन' कवि-कर्म की - चर्चा करना चाहता हूँ। क्योंकि यहा जिन कविताओं को आप देख आये हैं, ये अनुवाद *हैं* - और *नहीं भी हैं*। एक साधारण अर्थ में अनुवाद होते हुए भी एक गहरे अर्थ में जानबूझ कर अनुवाद 'नहीं भी हैं'। ये स्वतन्त्र कवितायें हैं - अगर कवितायें बन पड़ी हैं।

बात खुलासा चाहती है। अनुवाद इन्हें किस अर्थ में कहा जा सकता है, किस अर्थ में स्वतन्त्र? फिर पाठक यह भी कह सकते हैं कि कविता का सार्थक अनुवाद तो सार्थक कविता होता ही है, यह जानी-मानी बात है तो इन्हें सीधे सीधे अनुवाद ही कह देने में दोष क्या?

बात यह है कि इन कविताओं का वाक्पतिराज से सम्बन्ध सीधा नहीं है। 'अनुवाद' से एक अपेक्षा होती है। कविता का अनुवाद जहाँ कविता भी होना चाहता हो वहाँ भी आज एक माग होती है - यह कि मूल का प्रतिरूप हो . एक नई भाषा में मूल के शिल्प और मर्म की प्रतिकृतिहो । यह ठीक है कि 'सही प्रतिरूप' क्या हो इसका कोई परिनिष्ठित निकष न है, न हो सकता है। फिर भी अनुवाद से हमारा आज का बोध प्रतिरूप की ही माग करता है, और इसी आदर्श को सामने रख कर भिन्न अनुवादों में विवेक करता है। 'अनुवाद' शब्द के अर्थ में ही यह निहित है कि उसका मूल से गहरा तदात्म-सम्बन्ध हो। 'अनुवाद' से हम आशा करते हैं कि जो पाठक मूल तक नहीं जा सकता, अनुवाद उसके लिए मूल का 'बदल' होगा। तत्स्थानीय होगा। जहाँ तक हो सके मूल का काम करेगा। गद्य में ही नहीं, कविता में भी हम यही आशा रखते हैं।

मैं अपनी कविता को स्वतन्त्र इसलिए कह रहा हूँ कि मैंने अनुवाद का यह स्वीकृत आदर्श सामने ही नहीं रखा है। इसलिए 'अनुवाद' शब्द से किनारा करना चाहता हूँ।

फिर भी मेरे ये छन्द वाक्पति के आमूल ऋणी हैं। उन्हीं की कविताओं की 'धरती' पर गढे गये हैं। पर इनका भाव-निभाव–इनका तत्त्व–और इनकी निर्मिति, अपनी अलग है, स्वतन्त्र है। वाक्पति की अनुवृत्ति की चेष्टा नहीं करती। सोचता रहा हूँ, अपने इस रूपान्तर के लिए कौन सा शब्द रखूँ, जो रूपान्तर कि जानबूझ कर मूल से अपने सम्बन्ध को वक्र रखना चाहता है?

पहले भी मैने पुरानी कविता से - सस्कृत से - कुछ ऐसे से अनुवाद किये थे जैसे यहाँ हैं। वहाँ मूल और अनुवाद के सम्बन्ध को आज के स्वीकृत प्रतिरूप सम्बन्ध से अलग करने के लिए 'अनुवाद' की जगह राजशेखर के पुराने 'स्वीकरण' शब्द का प्रयोग किया था। इस धारणा की वहाँ विस्तार से चर्चा भी की थी। सग्रह का नाम ही **स्वीकरण** रखा था। सक्षेप में, स्वीकरण कवि-कर्म की वह प्रक्रिया है जिसमें कवि किसी पुरानी कविता के आधार पर अपनी स्वतन्त्र कल्पना से उसका रूपान्तर साधता है, और यों एक नई कविता को जन्म देता है। इस प्रक्रिया में कविता मूल से छिटक कर बहुत दूर भी निकल जा सकती है। स्वीकरण में यह गुण ही माना जाता है, दोष नहीं। स्वीकरण का उद्देश्य ही नई कविता की निर्मिति है, जिसे कवि 'अपनी' कह सके। पुराने की अनुवृत्ति, प्रतिरूप या किसी तरह का 'अनुवाद' साधना इसका उद्देश्य नहीं है। मैने भी स्वीकरण की दिशा ली है। पर यहा मेरे कविकर्म में, मूल से बिल्कुल हट जाने की भी चेष्टा नहीं है। जो चेष्टा है, 'अनुवाद' की तो नहीं है, पर मूल का निरादर भी नहीं है। यही इसका दोहरापन है, जिसके लिये ऊपर मैंने नवीन और प्राचीन इन दो विषम विषेषणों का एक साथ प्रयोग किया है। मेरे पिछले सग्रह **स्वीकरण** में ('स्वीकरण' के दावे के बावजूद) मूल-निष्ठता की एक सजग चेष्टा थी। यहाँ भी है, पर और कम हो गई है। मूल से और दूर हट गई है। इसलिए मैंने यहाँ रूपान्तर के साथ मूल का उद्धरण भी नहीं दिया है, जैसा कि **स्वीकरण** में दिया था। यहाँ मूल छन्दों की सन्दर्भ-सूचना खिल के रूप में अलग दे रहा हूँ। जिज्ञासु पाठक अनुक्रमणिका देख सकते हैं।

आप फिर पूछेंगे कि तो फिर मेरे छन्दो का मूल से क्या सम्बन्ध है? यह विचार सुधी पाठक पर ही छोडता हू। इन कविताओं को क्या कहें इस पर और विमर्श नहीं करूँगा। पर उनके नयेपन को हाथ कगन की तरह कुछ दिखाने की इच्छा से मैं यहाँ मूल के साथ कुछ ऐसे नमूने देता हूँ जो शायद सचमुच 'अनुवाद' कहे जा सकते हैं। 'मूलनिष्ठ' कहे जा सकते है। मैंने अलग क्या किया है, इनमें इसकी कुछ प्रकट सी बानगी मिलेगी। मेरे रूपान्तर आप देख ही आये हैं।

(1) 'उठ उठ कर बैठ गई माटी' (पृ 127)

उमहाअत-गिरि-यड सीमा-निववडिय-कनदलुबभेयं ।

गरम-होता-हुआ गिरि-तट, सीमा पर उभरते अंकुरों का फुटाव (लिए)।

णिववाइ विरल-धारा-बनधुरि-रय धरणि-वेढ ।। (गउडवहो, 383)

विश्राम करती है (बरसात की) विरल धार में छोटे-गोल-सुन्दर दानों मे बॅध रही धूल (लिया) धरा-पीठ।

('बधुरिय' 'पिण्ड में बधना', 'विभूषित होना')

इन अन्वय-धर्मी वाक्यों को हिन्दी के प्रकृत प्रवाह में सहेज कर एक ऐसा मूल-निष्ठ अनुवाद भी सहज ही खडा किया जा सकता है, जिसमें मूल का स्वरूप-स्वभाव भी हो, लय से भी कुछ लय मिले

ताप-तपी तलहटी, सीम पर जागा अंकुर का फुटाव ।
हलकी फुहार, धरती सुस्ताई, धूल बॅधी मनको मे ।।

(2) 'नाच उट्ठे नारियल' (पृ 124)

रड्खोलिर-परिणय-गबभ-सार-सभिडण-मुहर-फल-कोसा ।

जो झूल रहे हैं, जिनका सार पक गया है, आपस में भिड-भिड कर ('सभिडण') मुखर है जिनका फल-कोश।

इह पवणो णच्चावइ णालिएरी-वणालीओ ।। (गउडवहो, 634)

यहॉ पवन नचाती है नारियल की (ऐसी) वनराजि को।

अब मूल को पास से पकडता एक अनुवाद लीजिये

हिन्दोलित, पक कर गठा सार, भिड हुए मुखर, फल सारे।
पवन यहॉ थिरका जाती है, नारियलों के जंगल।

एक नमूना ओर देखिये।

(3) 'लहू की ऑख' (पृ 62)

इह वाहेहि वराहाण बाणबिहयाणमनुसरिज्जानित ।

यहॉ व्याध वराहों का, (जो) बाण से बिंध गये हैं, (उनका) पीछा करते हैं।

अगगगग-समुज्जाल-रूहिर-बिनदु-मुद्दाओ पयवीओ ।।(गउडवहो, 627)

आगे आगे उजागर लहू की बूद से अकित खोजों (के रास्ते)

अब एक मूल-स्पर्शी अनुवाद

यहाॅ व्याध, वराहो को, तीरो से बेध, चले पीछे।

आगे आगे की ओर दमकती, बून्द लहू की , खोजों मे।।

एक अन्तिम नमूना और ·

(4) 'पत्थरों की खान' (पृ 63)

इह कडिढअ-वयड-सिला-वडण-ट्ठिय-चुणण-रासि-पंसुलिया।

यहाँ, काट-निकाली गई विकट शिलाओं के गिरने से बनी धूल राशि से धूसर।

*विसमुज्जल-मुहल-तडा घडणा-जोग्गोवला गिरिणो ।। (**गउडवहो**,617)*

गडमड-उज्ज्वल, मुखर, तट (है), गढने-योगय चट्टानों वाले पहाडों के।।

एक काव्यानुवाद यों बन सकता है :

खोद-निकालीं यहाॅ शिलाये विकट, गिराईं, चूर्ण चूर्ण हो घिरी धूल।

गडमड-उज्ज्वल, मुखरित है तल, पर्वत, जिनमे हैं ठसे गढाई के पत्थर।।

ऊपर के अनुवाद और भी माँजे-निखारे जा सकते हैं। इसी दिशा में बढें तो ऐसे अनुवाद और निथरे हुए बन पड सकते हैं। अनुवाद की ऐसी चेष्टा को काव्यानुवाद का स्वीकृत मार्ग भी कहा जा सकता है - जहाॅ मूल के अर्थ, भाव और निर्मिति को जहाॅ तक हो सके यों का यों उतार लेने की आकाक्षा हो। मैंने यह रास्ता नहीं पकडा है।

अपनी कविताओं के बारे में दो शब्द और कहना चाहता हू - पृष्ठ की सतह पर शब्द-विशेष या शब्द-गुच्छों के विन्यास के बारे में। पाठक ने देखा होगा कि 'निष्प्रभ, धूसर इन्द्रधनुष' से पहले की एक एक कविता के शब्द-गुच्छ एक एक पृष्ठ पर ऐसे अतरालों में 'विन्यस्त' हैं जो अपरिचित-से और इस कारण पहली नज़र में अटपटे से लग सकते हैं। विन्यास पर कुछ कहना चाहता हू।

कविता का *पाठ* करते हुए एक बात से हम सहज ही परिचित हैं पृष्ठ की सतह पर कविता का पक्ति-विन्यास वैसा नहीं होता जैसा गद्य का होता है - *हो* तो हमें अटपटा लगेगा। हमारी काव्य-सवेदना यह आकाक्षा रखती है कि कविता के *लिखित* शब्दों के विन्यास का पृष्ठ के साथ *वही* सम्बन्ध न हो जो गद्य का होता है। यहा बात केवल गद्य को पद्य से अलग *दिखाने* भर की नहीं होती। हमारी सवेदना से भी उसका सम्बन्ध होता है। कविता के *सुनने* में गद्य से उसका अतर साफ उभरता है - भेद 'काकु' का भेद होता है जो शब्दों के उच्चारण को एक विशेष प्रवाह देता है - जहा शब्दों के उतार-चढाव में एक सगीत जैसा लय-बोध और

अनुरणन जागता है। *लेखन* में यह अनुरणन व्यक्त नहीं हो सकता। पर तो भी पृष्ठ की सतह पर कविता का गद्य से अलग विन्याम करने की - कविता को अलग रूप मे *लिखने* की - प्रथा आज हम मे घर कर गई है। इसके मूल में प्रेरणा कविता को एक अलग दृश्य 'ध्वनि' देने की है - कविता की गद्य-भिन्न व्यजना और स्वर-प्रवाह दोनों को 'दर्शाने' की। कविता का पक्ति-विन्यास करते हुए हम पृष्ठ पर एक एक पक्ति को अलग कर देते हैं - पक्ति को पूरे पृष्ठ का अतराल दे देते हैं। यह गद्य और कविता के बोध-भेद को ही पृष्ठ पर दृश्य रूप देने की चेष्टा का फल है। गद्य के उच्चारण-प्रवाह में भी शब्द और शब्द-गुच्छों के बीच अर्थ के अनुरूप अतराल होता है जिसके निमित्त स्वीकृत चिह्न प्रतिष्ठित हैं · पूर्ण-विराम (।), अर्ध-विराम(;), अल्प-विराम(,), आदि। पर ये *अर्थ*-बोध में आते प्रवाह के अतरालों और मोडों को ही लिखित रूप देते हैं, अर्थ-निहित *भाव*-बोध को नहीं। ये गद्य-स्वीकृत विराम कविता में भी होते हैं - पर पर्याप्त नहीं समझे जाते। हमारी सवेदना को लगता है कि कुछ और होना चाहिये। तभी गद्य और पद्य-लेखन के बीच पक्ति-विन्यास का भेद उभरा है - प्रेरणा सवेदना के 'कुछ और' को ही रूप देने की है। यह प्रेरणा आज रूप-विशेष में - या विशेष रूपों में रूढ हो गई है - एक चली-हुई *रीति*, एक परिचित परिपाटी बन गई है। पृष्ठ पर ऑख पडते ही हम समझ जाते हैं कि 'कविता' है - या अमुक प्रकार की कविता है। पर आज की चली-हुई परिपाटी के पीछे जो मूल आकाक्षा है वह कविता के शब्द-प्रवाह के अतराल-भेद को दृश्य-रूप में *व्यजित* करने की है। यह आकाक्षा किसी नियत परिपाटी में नहीं ढाली जा सकती। क्योंकि बात कल्पना की है - और इसलिये इसमें से कल्पना-भेद का स्थान हटाया नहीं जा सकता। यह अलग अलग रूप ले सकती है। क्योंकि इसका रूप लेना ही ज़रूरी नहीं है - यह जरूरी नहीं कि लिखते समय कविता की 'ध्वनि' को गद्य से अलग दृश्य-रूप देने की चेष्टा भी की जाये। अभी पिछले दिनों तक ऐसा नहीं किया जाता था। सैंकडों वर्षों से लिखी जाती पुरानी पोथिया देखिये - वहा दो शब्दों के बीच के अपेक्षित अतराल को भी लेखन में नहीं उभारा जाता था - गद्य और पद्य के अतराल-भेद की तो बात ही दूर! अतराल पर ही ध्यान बहुत कम था - पाठक पर छोड दिया जाता था। चाहे गद्य हो या पद्य, पृष्ठ के ऊपर वर्ण-शब्द-पक्तिया सब एक छोर से दूसरे छोर तक निरतराल भर दी जाती थीं। निरतरता का राज्य था - और अतराल की नि स्वता। अतराल की परिपाटी नई है। पर अतराल पर हम ध्यान देने लगें तो बात फिर केवल परिपाटी तक आ कर नहीं रुक सकती।

कविता के अतराल हमें सगीत के समीप लगते हैं। यहा 'विराम' की बात नहीं कर हम 'विदारी' की बात कर सकते हैं। 'विदारी' शब्द प्राचीन सगीत का है। सगीत के प्रवाह में स्वर और स्वर-गुच्छों के बीच के अतराल को 'विदारी' कहते थे। 'विदारी' शब्द 'विदारण' से - 'तोडने' से - बना है। स्वर-प्रवाह के बीच का 'विदारण' मगीत में स्वरों के 'शब्द' के बीच - घोष और नाद-प्रवाह के बीच -

नि शब्दता को भी एक अलग स्वतन्त्र और सार्थक सत्ता देता है। शब्द-प्रवाह के बीच अतराल यहा अपना अलग स्वर-तुल्य सा ही *स्थान* बनाता है। सगीत में अपनी अलग 'ध्वनि' रखता है और कई रूपों में प्रकट हो सकता है।

'धूसर, निष्प्रभ इन्द्रधनुष' से पहले की कविताओं मे एक एक पृष्ठ को एक एक 'बदिश' के विस्तार का 'वलय' - 'घर', 'पटल' या 'फ्रेम' - मानते हुए मैने परिपाटी से हट कर विराम के साथ विदारी को भी जगह देने की एक अपनी सी चेष्टा की है। चेष्टा नई - या किसी भी अर्थ में अभूतपूर्व - नहीं है, इसलिये पाठक के लिये एकदम से परिचय-हीन भी नहीं होनी चाहिये। पर ऐसी चेष्टायें अपेक्षया विरल हैं और बडी व्यक्ति-निर्भर भी होती है - हर प्रयोक्ता की अपनी कल्पना से प्रभावित होती है। पाठक की विशेष सवेदना भी चाहती हैं। आशा करता हू मेरी चेष्टा पाठक की सवेदना को आकृष्ट करेगी। शायद प्रयास कुछ 'सार्थक' भी लगे। अतिम कविता, 'धूसर, निष्प्रभ इन्द्रधनुष' की बोध-भूमि और प्रवाह भिन्न है - उसे लिखने में मैंने प्रचलित अतराल-प्रवाह ही अपनाया है।

वाक्पतिराज के जिन छन्दों को मैंने लिया है, उन्हें एक व्यापक अर्थ में प्रकृति-केन्द्रित कह सकते हैं। 'प्रकृति' यहॉ अरण्य और अरण्य के भीतर-बाहर गॉव, खेत, फलवारिया इन सब को समोता क्षेत्र है। अन्त की कविता कुछ अलग लग सकती है (इसीलिये अन्त में दी गई है)। कविता एक ध्वस्त नगर - विशेषकर उसमें के एक राजमहल - के खँडहर पर है। खॅडहर अरण्य के बीच है, अरण्य-ग्रस्त है, अब अरण्य का ही एक भाग है; अरण्य का ही भाव उभारता है, एक नगर-स्मृति-बोझिल विषाद के साथ, जो उसे दूसरी कविताओं से अलग करता है। यहाँ वाक्पति के प्रकृति-बोध का एक गहरा, अन्यत्र-अछूता पक्ष उभरता है, जहॉ मानव की कृति में प्रकृति के परायेपन की वेदना है। परायेपन को कवि ने कह कर व्यक्त नहीं किया है, इसलिए और भी मुखर है। कविता वाक्पति के प्रकृति-बोध के ही एक आयाम का रूप लेती दिखती है। यही सोच कर उसे इस सग्रह में रखा है। यह कविता, सग्रह की एकमात्र लम्बी कविता भी है। इसमें कई छन्दों को एक में समोया गया है, जिन्हें कवि ने अलग ही रखा है। पर यहॉ चित्र की ओर बोध की एक घनीभूत इकाई है, जो एक-शरीर जान पडती है, तभी मैंने इसे एक कलेवर में पिरो दिया हे।

यह नहीं है कि दूसरी कविताओं के अनेक में एक-बोध का अभाव है। पर वहॉ हर छन्द अपने-में-पूरी इकाई भी बनाता चलता है। हर छन्द एक 'मुक्तक' है। एक स्वतन्त्र चित्र की तरह उजागर होता है। इन छन्दों का समग्र, भाव का एक ऐसा सामान्य परिवेश बनाता है जहॉ हर छन्द का अपना विशेष बोध भी जागता रहता है। जापानी वुड-कट चित्रों की तरह यहा छन्दों का 'साथ' मानो चित्रों का एक ऐसा

'निकाय' बनाता है, जिसमें हर चित्र की अपनी अलग सत्ता भी बनी रहती है। हर छन्द अपनी अलग परिधि को - अलग 'चोखटे' को - रखता हुआ ही औरों का 'साथी' बनता हे। मेंने भी इन्हें अलग मुक्तक ही रखा है, पर इन्हें यों क्रम मे सजाने की चेष्टा की है कि इनका परस्पर-भाव कुछ उभर कर दिखे।

ऐसी कविता का इतना बडा सभार, जो यहाँ सकलित है, वाक्पति के पहले नहीं मिलता। वाक्पति आठवीं सदी में हुए थे, और उन तक आते-आते प्राकृत की काव्य-परम्परा बहुत सधी-समृद्ध हो चुकी थी। अपनी तरह की शिष्ट परम्परा बन चुकी थी। पर वाक्पति के पहले की परम्परा मे *ऐसी* कवितायें नहीं हैं। या *लगभग* नहीं हैं कहना चाहिये। क्योंकि उनकी दिशा लेतीं कुछ कवितायें देखने में आती भी हैं। इनकी चर्चा करूगा।

वाक्पति से पहले के प्राकृत काव्य का प्रतिष्ठित ग्रन्थ है **गाथासप्तशती**। सग्रह ग्रन्थ है। भिन्न कवियों की सात सौ मुक्तक कविताओं का - गाथाओं का - सकलन है। वाक्पति के प्रकृति-काव्य की पूर्व-सूचना देखनी हो तो यहीं देखनी चाहिये। फिर यहाँ कविताओं का परिवेश भी नगर से दूर ग्राम का 'प्राकृत' अचल है। जहा प्रकृति-काव्य की अपेक्षा की जा सकती है। पर हम पाते हैं कि **गाथासप्तशती** का विषय प्रकृति नहीं है। या नहीं के बराबर है। गिनती के कुछ एक छन्द प्रकृति पर हैं भी। सम्भव है कि सग्रह के बाहर और भी रहे होंगे, पर सगृहीत नहीं हुए। उनका आकलन भी नहीं किया जा सकता।

गाथासप्तशती के सग्रह का मर्म, या दृष्टि, शृगार है। 'मर्म' शब्द का इसलिए यहाँ प्रयोग कर रहा हूँ, क्योंकि सग्रहकार हाल की भूमिका से लगता है कि इस सग्रह का ही नहीं, प्राकृत कविता मात्र का केन्द्र शृगार था। **सप्तशती** की दूसरी गाथा में सग्रह का उद्देश्य हाल यों प्रकट करते हैं . 'अमृत है प्राकृत की कविता; जो इसे पढना-सुनना नहीं जानते, उन्हें काम-तत्त्व का चिन्तन करते हुए लज्जा आनी चाहिये'।

पर यह देखिये कि हाल की **गाथासप्तशती** की जिसे पहली कविता कह सकते हैं, वह प्रकृति-परक ही है। (गिनती में यह सग्रह की चौथी गाथा है, लेकिन इसके पहले जो तीन गाथायें हैं वे सग्रह के *भीतर* नहीं हैं, उनमें पहली का लक्ष्य मगल-कामना है शिव-स्तुति के माध्यम से, फिर आगे की दो गाथायें सग्रह की भूमिका हैं - सग्रह का उद्देश्य क्या?, किसकी रचना हैं?)। फिर यह चौथा छन्द है

उअ णिच्चलणिप्पन्दा भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ ।
णिम्मलमरगअभाअणपरिट्ठिआ सखसुत्तिव्व ।।

इसका यो अनुवाद किया जा सकता है–

बगुला,

बिस पत्ते पर

निष्पद खडा

मरकत के

निर्मल भाजन पर

ज्यों सजा रखा हो

शख

सप्तशती की शृगारमयता सदियों से सहृदयों पर ऐसी छाई हुई है कि इस गाथा पर टीका करते हुए मथुरानाथ शास्त्री जैसा आधुनिक टीकाकार भी इस गाथा को शृगार में ही समेटना चाहता है यह कह कर कि यहॉ ध्वनि सहेट की है, चाहे सहेट की बात न आई हो - स्थान रम्य है, निर्जन भी है, तो कहना क्या, अभिसार का निमन्त्रण भी देता ही है! पर गाथा को यों देखना प्रकृति के समस्त सौन्दर्य को ही उद्दीपन के रूप में - शृगार के परिवेश के ही रूप में - देखना है। ऐसी प्रवृत्ति भी सस्कृत के रसवादी आलोचकों में रही है, पर इस गाथा से ऐसी कोई ध्वनि नहीं उभरती, बाहर से आहार्य ही हो सकती है- वह भी बलात् लाई गई। हॉ, वाक्पति को ध्यान में रखते हुए इस छन्द पर यह टीका शायद की जा सकती है कि यहॉ प्रकृति है तो, पर गौण है, कवि की अलकार-चेतना ही प्रधान है। कवि का अभिनिवेश प्रकृति पर उतना नहीं जितना अपनी उत्प्रेक्षा के उन्मेष पर ठहरता दिखता है (मरकत की गाढी हरी काली सी थाली पर उजला, धौला शख)। पाठक को लग सकता है कि यहाँ काव्य-बोध में यह बिम्ब ऐसा छाया हुआ है कि कविता को अरण्य के बगुले से दूर किसी सुरुचि से सजे, शिष्ट, नगर-बसे घर की ओर खींचता है।

सप्तशती से एक और चित्र लीजिये

रेहन्ति कुमुअदलणिच्च्लट्ठिआ मत्तमहुअरणिहाआ ।

शशिअरणीसेसपणासिअस्स गण्ठि व्व तिमिरस्स ।।

यह 661 वीं गाथा है। चित्र ऐसी रात का है जब रात गहरा गई है, और चॉद घने अन्धेरे के बीच उगता है।

अर्थ यों किया जा सकता है .

चॉदचढा।

सब काट मिटाया

अधकार।

कुछ गाँठें ही हैं बची यहा -

ज्यों कमल पखुडी ऊपर

निश्चल, मतवाले

भौंरे (काले)

'मतवाले' का यहाँ क्या औचित्य है, इस अपेक्षा को भूल भी जायें तो भी उत्प्रेक्षा ही यहाँ भी घनीभूत है - व्यजना में भौंरे के बिंब की ही गूँज मुखर है। रात के घुप, सपाट अन्धेरे में चाँदनी का कुहक - जिसके विस्मय ने कविता जगाई, कवि उससे दूर निकलता दिखता है - दूर की कौडी की तलाश में।

पर इनसे अलग भी एक छन्द देखिये :

भरणमिअणीलसाहग्गखलिअचलणद्धविहु अवक्खउडा ।

तरुसिहरेसु विहंगा कह कह वि लहन्ति संठाणम् ।।

अनुवाद

झुक गये भार से

पेडों की फुनगी ऊपर

डालों के कोमल हरे छोर।

डगमग, चिडियाँ

उतले डैने -

आधे पजों की

ज्यों त्यों पूरी पकड साध,

फडफड करतीं, अब बैठी हैं

यहाँ कविता करने की कोई चेष्टा नहीं है। न अलकार की, न रीति की, न ध्वनि की। किसी बाँकपन की ओर ध्यान नहीं है यहाँ। एक सीधी, अपने-विषय-में-ही-व्यस्त, प्रवृत्ति है। प्रकृति में रमती है - प्यार के साथ, और इसीलिए, सूक्ष्मेक्षिका से उसमें उतरती है। वर्ण्य में तन्मयता ही यहाँ शिल्प है, इससे परे किसी कवि-सुलभ कौशल की साध नहीं। जो व्यजना है, अभिधा ही में है यहाँ, और अभिधा जो कह रही है वही कविता है।

वाक्पति भी जब प्रकृति में उतरते हैं तो कुछ इसी तरह उतरते हैं, और तब उनकी वाणी में भी ऐसा ही स्वर बोलता है - और भी प्रखर हो कर उभरता है। सवेदना के बहुवर्ण विस्तार के साथगूजता है। उनके प्रकृति-ईक्षण में बडा वैभव और विस्फार है। बहुत बडा ऑगन खोलते हैं प्रकृति का। रग, रूप, रस, गध, वर्ण और इनका सूक्ष्म सभार, जो हमारे साधारण बोध के अगोचर ही रहता है, वाक्पति की कविता में उज्ज्वल होता निथर आता है। झीनी छवियॉ उभारते हैं वाक्पति - जो कहीं-कहीं एक निगूढ नाटक जैसी 'घटना' के सकेत में भी पलती दिखती हैं (जैसा कि ऊपर की कविता में भी है)। वाक्पति प्रकृति की जिन मुद्राओं को हमारे सामने जगा देते हैं उन पर हमारा ध्यान कम जाता है, जाता भी है तो ठहरता, डूबता नहीं,उपेक्षा के साथ ही जाता है। वाक्पति उन्हें हमारे लिए जीवन्त, स्पदित कर देते हैं।

वाक्पति इन्द्रियों की विस्मित आँख से प्रकृति को देखते, सुनते, स्पर्श करते और शायद सबसे बढ कर सूघते हैं। प्रकृति का रौद्र-भयकर और कहीं-कहीं विरस-बीभत्स रूप भी उनके काव्य में चमक जाता है, पर उनके लिए प्रकृति इन्द्रियों का निमन्त्रण है। तपस्या या अध्यात्म का सौम्य, स्तब्ध, वीतराग परिसर नहीं, न आश्रम की सी सरल, सजल स्नेहमयी मनुष्य और मनुष्येतर को परस्पर प्रेम के एक-सूत्र में बॉधती ऋषियों की गृहभूमि है। वाक्पति की प्रकृति-दृष्टि में प्रकृति से हमारा गभीरतर सम्बन्ध प्राणों का सहज सम्बन्ध है, जो कहीं एक गूढतर आत्मसम्बन्ध की ओर पॉव बढाता लग सकता है - पर जो रहता नेपथ्य में ही है। वाक्पति में किसी 'अगाध', 'अगोचर' का सकेत नहीं है। वाक्पति के समय के चीनी कवियों को देखिये। इन कवियों में भी प्रकृति का सूक्ष्म ईक्षण है, पर प्रकृति वहा सहज ही एक 'सहज' भूमा का, एक बृहत ऋत का अनुभव भी जगाती है। वाक्पति में ऐसे किसी विराट् का भाव नहीं है। वाक्पति की प्रकृति-सवेदना को शायद हम मन-प्राण की चमत्कृति कह सकते हैं, एक शोभा-स्फुरित जीवैक्य बोध, जो ऋजु, सरल, अनायास है - और ऐसी ही कविता में रूप लेता है।

ऐसी कविता को पुरानी शब्दावली में स्वभावोक्ति भी कह सकते हैं, जहाँ कविता *अपने* 'होने' की ओर उन्मुख न हो कर - कविताई में न उलझ कर - *वस्तु* के 'होने' का उद्घाटन करना चाहती है। यह मात्र वर्णन नहीं, जो कि बाहर की, ऊपर-ऊपर की, सतह की बात होती है; स्वभावोक्ति में वस्तु के भीतर उतरने की प्रेरणा होती है। तभी वह कविता होती है - स्वभाव यहॉ वस्तु का भावन है, जो कई रूप, कई दिशायें भी ले सकता है, क्योंकि भीतर की डुबकी लगाता है। इसी बात को 'अलकार' की शब्दावली में भी कहा जा सकता है। कविता को साधारण भाव और भाषा की भूमि से हटा कर उसे एक व्यापक अर्थ में अलकार-चेतना से हम जोड सकते हैं। ऐसा करें तो वाक्पति की प्रकृति पर लिखी कविताओं के लिए 'स्वभावालकार' की बात की जा सकती है - 'ऐसा कवि-कौशल जो वर्ण्य के

स्वभाव को स्वभाव की ही पर्याप्ति में उतारता है'। पर इसके लिए 'अलकार' शब्द को यों समझना होगा - 'जैसा, जितना, कहा-किया जाना चाहिये (अलम्), वैसा और उतना ही कहना-करना'। अलकार शब्द का जो अर्थ अन्यथा लिया जाता है, यह स्पष्ट ही इससे विपरीत है - 'कविता मे कही गई बात का शिल्प-रूप मण्डन'। ऊपर जो **गाथासप्तशती** का छद अभी मैंने लिया, उसमें वर्ण्य के ही स्वभाव को ऑकने की साध है, अगर यह स्वभावालकार है तो यहा 'अलकार' की बात की जा सकती है। कवि की दृष्टि यहा सूक्ष्म है, वर्ण्य के स्वरूप को शब्दों में उतारना चाहती है। पर मानो कविता के सहारे नहीं, वर्ण्य के ही सहारे। एक उन्मेष जगाती है, जो कवि की *दृष्टि* का है, उसकी कविताई का नहीं। कवि मानो हमारी दृष्टि की अगुवाई करता हमें प्रकृति में ले चलता है। हमारे देखने में जो अनदिखा रहता है, दिखाता है, एक नई ऑख जगाता है। करता वर्णन ही है - आपात-दृष्टि से *कोरा* वर्णन भी करता जान पड़ सकता है; पर उसकी दृष्टि वर्ण्य की धमनी में अपना स्फुरण ढूढती है, अपनी दीठ से हमें चमत्कृत करती चलती है। भाव जैसा कुछ 'व्यजित' करने का इरादा तो रखती नहीं जान पडती, पर उन्मुख फिर भी हमारी भावना की ओर ही होती है, बुद्धि की ओर नहीं। पर भाव मानो क्षितिज पर ही रहता है - दूर, पकड से बाहर। हम तक उसका एक आभास ही आ पाता है। एक गूज अनपहचानी सी जागती है - भाव से जैसा हमारा साधारण परिचय है, वैसा कुछ नहीं उभरता। नृत्त, सगीत की सी स्थिति बनती लगती है।

यहाँ वाक्पति से भी हम पूछ सकते हैं कि अपनी कविता के बारे में वे क्या कहते हैं। बड़े जागरूक, आत्मचेतन कवि थे वाक्पति और अपनी अनन्य, व्यक्तिगत शैली पर उन्हें गर्व भी था। उसके बारे में कहते हैं–'उसका (वाक्पति का) वाणी-विलास ऐसा है जैसे सरस चित्र हो–उसमें रस है, स्पर्श का लावण्य है, सार है, वह स्थिर-उज्ज्वल है, छाया-घन है'।

आलेक्खियं च सरसं च परसि-लोणं च सारवन्तं च ।

थिरमुज्जलं च छायाघणं च गी-विलसियं जस्स ।। (**गउडवहो**, 801)

देखने की बात है कि कवि ने आलकारिकों के नहीं, चित्र-रसिकों के शब्द चुनते हुए किसी मार्मिक चित्र के लक्षण अपनी कविता पर उतारे हैं, मानो, हमारी आँखों के आगे रखे, हमारी सवेदना में उजागर किसी जीवत चित्र से अपनी कविता को तोला है ऐसा चित्र जहाँ रगों के साथ रगों की घुलती छायायें आकृति की बुनावट को गफ-गझिन बनाती हैं, जिसकी लुनाई छू लेने को ललचाती है। यह अपने आप में ही कविता का एक अनूठा आदर्श है (जिसे अभी पिछले दिनों तक 'क्रातिकारी' भी कहा जाता था)! चित्र से यह तुलना कितनी सार्थक है, सहृदय पाठक **गउडवहो** देखते हुए जॉच सक्ते हैं- क्योंकि कविता की चर्चा करते हुए कवि स्वय अपनी कविता पर क्या कहता है, इसकी प्रासगिकता या सार्थकता प्रश्न के घेरे में रखी जा सकती है। पर एक बात आपने फिर भी देखी होगी–वाक्पति की बात

सार्थक हो भी तो पूरी नहीं है। यह ठीक है कि वाक्पति अपनी कविता मे चित्र तो ऑकते हैं, बडे वर्ण-स्निग्ध, रग में रग की, रूप में रूप की छॉह सॅजोये, छाया-घन चित्र ऑकते हैं, पर वे केवल चित्र नहीं हैं, चलचित्र हैं, स्पर्श-मय भी हैं। स्पर्श की बात ऊपर की गाथा में वाक्पति ने की भी है (परसि-लोण) - पर यों कही बात कुछ बुद्धि की, चित्र-*लक्षण* की सी लग सकती है, स्पर्श जहाँ परोक्ष है, स्पर्श की बात का सही सम्बन्ध चित्र के उस गुण से बनता लगता है जिसे वाक्पति ने 'स्थिर-उज्ज्वल' कहा है (यह गुण पहाडी-राजस्थानी कलम के कई पुराने चित्रो में आज भी स्थिर है)। यह वर्णो की ऐसी उभरती, ऑखों-को खींचती स्पद-मयी काति है जो ऑखों से कहती है, आओ मुझे छू लो। वाक्पति के चित्रों में इससे भी अधिक साक्षात् स्पर्शमयता की अनुभूति होती है, वहा केवल रग-रूप उकेरने का छाया-घन कौशल नहीं, चित्र के पीछे खडी प्रकृति ही मानो छू लेने की चेतना में जाग उठती है। पर जो बात वाक्पति में बिल्कुल अनूठी है वह है उनके चित्रों की गन्धमयता। गन्ध-बोध के 'बहु-रग' भाव-लोक के प्रति उन जैसी पैनी-पैठती सवेदना किसी और कवि में शायद ही मिलेगी। साथ ही एक गम्भीरतर बात और है। वाक्पति अपनी शैली की चित्रमयता की बात करते हैं तो अपनी पूरी कविता के लिए करते हैं। प्रकृति-काव्य को अलग नहीं रखते। पर उनका प्रकृति-काव्य उनके शेष काव्य से भिन्न है। वे कोई भी शैली साधते हों, और हम मान भी लें कि उसमें वे सफल हुए हैं, तो भी उनके प्रकृति-काव्य पर यह बात उसी अर्थ में पूरी होती नहीं दिखेगी जैसी कि उनके शेष काव्य पर। उनके प्रकृति-काव्य में चित्रमयता है भी तो उसे किसी साधी हुई 'शैली' के रूप में देखना ठीक नहीं लगता। जैसा कि कह आया हूँ, वहाँ कविता करने की बात उतनी सार्थक नहीं जितनी 'देखने' की बात, या काव्यात्मक शैली में ही कहना चाहें, तो 'चितवन' की बात।

पर एक बात उनके सम्पूर्ण कवि-कर्म के बारे में कही जा सकती है। एक बडा 'इहलौकिक' सा भावलोक है वाक्पति में, जो उनके प्रकृति-परक छन्दों में ही नहीं उनकी *देव*-स्तुतियों में भी झलकता है - जहा कुछ तो अलौकिक की अपेक्षा रक्खी जा सकती है । एक अर्थ में ऐसे भावलोक को शिष्ट और शिल्प-विदग्ध सस्कृत काव्य-मात्र की बोध-भूमि कहा जा सकता है। हा, वाक्पति जैसा सूक्ष्म और विस्तृत प्रकृति-वीक्षण सस्कृत में विरल है और इस बात को कहते हुए मैं प्राकृत को भी सस्कृत के साथ ही रखना चाहता हूँ। सच पूछें तो प्राकृत, सस्कृत दोनों में कुछ शिल्प का, कुछ सवेदना का, भेद हो भी तो भी दोनों की कविता निर्मिति और भाव-तत्त्व की एक सी बोध-भूमि पर स्थित है। दोनों का परस्पर भाव भी स्वीकृत ही था। वाक्पति स्वय कहते हैं 'प्राकृत की छाया से सस्कृत के पदों का लावण्य उन्मीलित होता है, सस्कृत के सस्कार का उत्कर्ष पा कर प्राकृत में प्रभाव उभरता है'

उम्मिल्लइ लायण्णं पयय-च्छायाएँ सक्कयवयाण ।

सक्कय-सक्करुक्करिसणेण पययस्सवि पहावो ।। (**गउडवहो**, 65)

वाक्पति का प्रकृति-काव्य भी 'इहलौकिक' है, पर एक मर्म का भेद भी उभरता है जब हम वाक्पति की देव-स्तुतियों को देखते हैं। वहाँ कविताई का प्रकट ही नहीं, चतुर, विदग्ध, प्रयास है - चाहे भगी कितनी ही कवि की अपनी हो, कितनी ही नितान्त वैयक्तिक हो (और है भी)। देव-नमस्कार से काव्यारम्भ होता है, और वहीं से कवि का शिल्प-वक्र काव्य-कौशल और भाव का इहलौकिक धरातल दोनों प्रकट होकर उभर आते हैं। कुछ उदाहरण दूगा, जिनसे बात झलक आयेगी।

विष्णु के नाम कई गाथायें हैं। वाक्पति का विष्णु के असुर-विरोधी रूपों की ओर कुछ पक्षपात झलकता है। पर मोहिनी रूप भी है। फिर कृष्णहैं। कृष्ण के मधुर अनुरागमय रूप का ही वर्णन है। महाभारत के धर्मावतार रूप का नहीं। राधा-प्रणयी, उत्कट शृगारी रूप भी है। बहुत ही 'लौकिक' भाव के साथ[1] बाइसवीं गाथा कहती है–

णह-रेहा राहा-कारणाओ करुणं हरन्तु वो सरसा ।

वच्छ-त्थलम्मि कौत्थुह-किरणाअन्तीओ कण्हस्स ।। (**गउडवहो** 22)

दुख दूर करें,
राधा-नख।
कान्हा के उर जो उकेरी है सरस रेख -
कौस्तुभ-मणि-किरण बनी।

इस छन्द के बाद ही मोहिनी का फिर से स्मरण है, पर बात राहु की विषम, निधड, सिरकटी स्थिति पर टिकी है। कुशल नर्तक की तरह कवि भाव के सचार की दिशा एकदम बदल देता है। श्रृगार से हट कर एक गुत्थिल, अत स्तब्ध, 'करुण' की ओर मुड जाता है .

तं णमह जेण अज्जवि विलूण-कण्ठस्स राहुणो वलइ ।

दुक्खमनिच्चारियचिय अमूल-लहुएहिं सासेहिं ।। (**गउडवहो**, 24)

उसे मेरा नमन,
जिसके प्रहार से
आज भी राहु का सिरकटा, घुटा,

अनकहा दुःख
छोटी-ओछी,
भीतर ही भीतर उमडती साँसों में उलझा
वाहर नहीं आ पाता है।

वाक्पति में ऐसे जटिल, 'मानवीय' भाव और भी हैं। करुण-बीभत्स और करुण-रौद्र या करुण-भयानक रसों के विषम मेल के प्रति एक 'आधुनिक' सा रुझान है उनमें - जैसे यहाँ ऊपर के छन्द में। कल्पना सौषम्य-विरोधी सूत्रों में पलती चलती है। धरातल इहलौकिक ही रहता है।

इस विषय में और भी लक्षणीय शायद देवों के चित्रण में खनकता परिहास है।

जैसे एक गाथा कृष्ण बलराम दोनों पर देखिये :

अप्पाण-गमिय-वियणत्तणेण पर-दलिय-सेस-कुम्माण ।
णिरूपालम्भ वल-केसाण परिवग्गियं जयति ।। **(गउडवहो, 26)**

साथ-साथ घूमते हैं केशव बलराम।
जय हो उनकी।
दूभर है दोनों का भार।
इधर शेष उधर कूर्म -
बहुत पीडा है दोनों को -
पर कोई जो आप ही अपने को सताने की ठान ले
तो दोष किसको दे?

कृष्ण-बलराम के बाद एक गाथा कृष्ण पर है - या पीतवसन विष्णु पर। अच्छी, समर्थ कविता है, जो हरि के केहरि - नृसिंह - रूप की भी याद दिलाती है और कुछ बिहारी के उस दोहे की भी जहाँ वे कृष्ण की बाँसुरी के हरे पर पीले की आभा चढने की बात करते हैं

तं णमह पीय-वसणं जो वहइ सभाव-सामल-च्छायं ।
दिअस-णिसा-लय-णिग्गम-विभाय-सबलपिव सरीरं ।। **(गउडवहो, 27)**

स्वभाव-श्यामल शरीर पर पीत वसन -
लगता है, दिन और रात को अलग करती रेखा से
बँट गई है देह। उसे मेरा नमन।

आगे शिव पर कुछ गाथायें हैं, जिनमें उनके काम-दाही रूप को पहले उभारा गया है। पढते हुए मुझे कुछ ऐसा लगा कि शिव ही वाक्पति के इष्ट-देव थे। यहॉ कोई चुटकी या चुहल नहीं है जैसी कि ऊपर कृष्ण-बलराम पर है। हॉ, एक गाथा में तीखा परिहास है, जहॉ स्कन्द के अविवाहित रह जाने को एक चुटकुला सा बना दिया है :

तं णमह कुलंपिव जस्स सुलह-संभावणं परिहरन्तो ।
अज्जवि बाणमणङ्गो णो मुयइ भआ कुमारम्मि ॥ (गउडवहो, 42)

'उसी कुल का तो है,
कौन जाने वही न कर बैठे -
सम्भावना सुलभ है'
यही सोच कर कामदेव
शिव के पुत्र स्कन्द पर
आज भी धनुष नहीं उठाते
(कुॅवारा है बेचारा)
ऐसे स्कन्द को नमस्कार है
पर यह शिव पर नहीं, उनके पुत्र पर है।

इस गाथा में विनोद का गहरा पुट ही नहीं है, 'हॅसी उडाने' की तीखी प्रवृत्ति है, जो चौंका देती है। भाव में लौकिकता ही नहीं, ठिठोली का एक नितात हलकापन है।

देवताओं के साथ ऐसी चुहल भरी छेडछाड वाक्पति के आगे-पीछे के कई सस्कृत कवियों में भी मिलती है। पुराना कोई सुभाषित सग्रह उठा कर देखिये, नमूने के बाद नमूना मिल जायेगा। देवताओं के प्रति जिस मनोभाव का ये छन्द परिचय देते हैं उस पर विशेष विचार नहीं किया गया है। पर भाव भक्ति का तो नहीं ही है - भाव में परिहास का फुरफुराता सा उछाल है जो देवताओं को देवत्व के स्वर्लोक से उतार कर धरती पर ला खडा करता है। एकदम से 'इहलोक' का जीव बना देता है, वह भी निहायत 'याराने' के साथ। बडी अतिपरिचित 'लौकिकता' के साथ।

कोई इसका अर्थ शायद यह लगाये कि तत्कालीन युग ही मानव-बोध का 'ह्युमैनिटेरियन' · युग था, जैसा कि योरोप में रिनेसॉं-काल के लिए कहा जाता है। पर बात अधिक जटिल है। योरोप में भी जटिल है, जहॉ ह्यूमैनिटेरियन बोध के साथ ईसाइयत का दैवी बोध भी उतना ही गहरा था। यों भी योरोप के इतिहास को भारत के लिए निदर्श बनाना तो स्पष्ट ही भ्रान्ति है - यहाँ धर्म और लौकिकता का वैसा हिंस्र और उत्कट विरोध कभी नहीं रहा जैसा कि योरोप के ईसाई युग में गहराता देखा जाता है। भक्ति-काल में जब धर्म-भाव अधिक प्रखर था, तब भी कृष्ण के प्रति गहरे

भक्ति-भाव से लिखे पद और नायक-नायिका भाव से लिखे बडे 'लौकिक' शृगारी कवित्त हिन्दी (और दूसरी भाषाओं में) मिल ही जाते है। फिर इसे हम ह्युमैनिटेरियन बोध का उदय क्यों नहीं कहते? न हम यह मानते हैं कि कृष्ण को लौकिक नायक के रूप में आँकने वाले कवि देवद्रोह (ब्लास्फेमी) की ओर उन्मुख थे। हम यह तो कह सकते हैं कि किमी भी सभ्यता में लौकिक और अतिलौकिक का भेद तो होता ही है और जिसे लोकातिग माना जाता है उसके प्रति भाव के गाम्भीर्य को भी उचित माना जाता है। पर इसकी कोई परिनिष्ठित मर्यादा हम नहीं बना सकते। और फिर हम यह तो कह ही नहीं सकते कि वाक्पति का और सस्कृत-प्राकृत के अन्य कवियों का भाव ब्लास्फेमी जैसा कुछ था - क्योंकि जिस सन्दर्भ की हम बात कर रहे हैं वहाँ इस शब्द का कोई अर्थ ही बनता नहीं दीखता। पर प्रश्न फिर भी रह जाता है -इसे क्या कहे? कुछ ही कवियों में यह भाव कुशल सचेतन शिल्प के साथ उभर कर आता है - ऐसे कवियों में जिन्हें अभिजात और विदग्ध भी कहा जा सकता है जिन्हें *नागर* कह सकते हैं। इन्हें दरबारी कहने का भी चलन है, पर ये राजसभाओं में सीमित नहीं थे, उस सस्कृति में पले थे जो नगरों में परवान चढती, मँजती, प्रौढ होती आई है। भारत में कामशास्त्र इमी सस्कृति का प्रतीक है। गणिकावाट इसके घर थे। 'लौकिकता' के रग मे रगी यह सस्कृति धर्म-विरोधी तो नहीं कही जा सकती, लेकिन धर्म के प्रति इसका भाव श्रद्धा-हीनता का *भी* हो सकता था। वैसे धर्म से इसका सम्बन्ध जटिल था, जिसका कोई सीधा एकागी सा लक्षण नहीं किया जा सकता। यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि काव्य के कुछ अपने आदर्श थे, 'अच्छेपन' की अपनी परख, जो कविता मात्र की कसौटी थी। इन आदर्शों में एक यह था कि कविता बडी इन्द्रिय-गम्य होनी चाहिये, बडी ठोस, बडी दृश्य-श्रव्य-स्पर्श-मयी। जैसे कुछ साक्षात् सामने खडा कर दिया गया हो, चाहे कथ्य कितना ही इन्द्रियातीत हो। अग्रेजी के आधुनिक कहलाने वाले काल ने भी यह आदर्श जगाया था और हम पर आज फिर वहाँ से आई इसकी छाया है। इस आदर्श में एक अतर्निहित सी 'लोकिकता' है, या लोक-प्रधानता, जो एक लम्बे काल तक सस्कृत-प्राकृत काव्य-बोध को भी मींचती रही है। वाक्पति के प्रकृति-चित्र इसके बडे स्फुट उदाहरण हैं। वैसा ही सा बोध उनके देव-वर्णन में भी है। पर भाव का धरातल वैसा सहज-उदात्त नहीं है। कविताई के इस आदर्श को बोध मात्र की 'लौकिकता' से जोडना कहाँ तक ठीक होगा, यह विचारणीय है।

वाक्पति की अपनी निजी बोध-प्रवणता पर आयें तो हम पाते हैं कि प्रलय के प्रति वाक्पति के मानस मे एक विचित्र सा गाढ मनोभाव था, एक तरह का ऐसा लगाव कहना चाहिये, जिसे फिर 'आधुनिक' कहा जा सकता है। विनाश - यहा तक कि मर्वतोमुखी विनाश - उनकी कल्पना को मानो बरवस खींचता है, और प्रगल्भ करता है। काली का वर्णन करते हुए वे जो उत्प्रेक्षा रखते हैं उमके गर्भ में प्रलय की घोर ही नहीं. बडी वक्र-विषम सी कल्पना है—

भमिय पलअ-पओसे विविह-कवालम्मि णमह कालीए ।
मिलिआसेस-णिसा-लक्ख-विसम-बहु-चन्द-खण्डेव्व ।। (गउडवहो, 45)

प्रलय की गहराती साँझ।
झुटपुटे में घूमघूमती काली के गले में
टुकडे टुकडे कपाल जगमगाते हैं।
कितनी रातों के कितने बेमेल चाँद।

अरण्य में खँडहर हुए राजमहल का वर्णन भी विनाश के प्रति आकर्षण की कोटि में रखने को जी चाह सकता है। पर वहा प्रकृति के अचेतन में खोई मानव सस्कृति के प्रति एक उदास, पर मानव-स्मृति-स्पदित उजास का भाव ही अधिक सचेतन है (पाठक शायद मेरे रूपातर में भी इस व्यंजना का बोध करेंगे)। विश्व-ब्रह्माण्ड के विनाश की *कल्पना*, और किसी जीते-जागते नगर के विनष्ट अवशेष के प्रति भाव की आत्मीयता मे अतर स्वाभाविक है।

और 'विनाश' अगर अपने जैसे ही किसी व्यक्ति का हो तो भाव की शिरा में वेदना की और अतरग गति आ जाती है। एक और वर्णन लेता हू जिसे इस सदर्भ में ही रखना चाहिये। सस्कृत-प्राकृत काव्य में अनपहचाना वर्णन है, जो 'विनाश' के प्रति कवि की सवेदना के एक अनय-कवि-दुर्लभ पक्ष को उभारता है। वर्णन एक ऐसे पुरुष का है जिसे विन्ध्यवासिनी के आगे बलि चढाया गया था (लगता है शबरों का अनुष्ठान था)। यशोवर्मा की मगध की ओर बढती विजय-यात्रा उन्हें विन्ध्य के जगलों में ले जाती है। वहाँ शबर जाति के वनजीवी लोग उन्हें रास्ता दिखाते हुए, और (उनकी सेना के लिए) रास्ता बनाते हुए, उन्हें देवी विन्ध्यवासिनी के मन्दिर ले जाते हैं। विन्ध्यवासिनी शबरों की ही देवी थी। वाक्पति ने 'शबरी' के नाम से उन्हें पुकारा भी है। मन्दिर में महिषमर्दिनी के रूप में देवी का सहस्र-भुज विग्रह था। रूधिर-प्रिया देवी के आगे और पशुओं के साथ नर-पशु की बलि के भी अवशेष थे। यशोवर्मा वहाँ पहुँचे तो देखा कि देवी के आगे कुछ समय पहले बलि किया गया एक नर-कलेवर पडा था। यहा यशोवर्मा के मुँह से कवि कुछ गाथायें कहलाता है। इनके कथन का सयम इनकी भाव-गभीरता का द्योतक है। दो गाथाओं के अनुवाद यहाँ दे रहा हूँ

तम्मिच्चिय संधि-पसूय-कीड-मालाविले णडालम्मि ।
हासाय भिउडि-भङ्गोव्व विलिहिओ अह कयन्तेण ।।
इह अज्जवि किं णु पुराण-भाव-कविसीकयट्ठि-बन्धम्मि ।
हियउद्देसे रोसग्गि-पिंडि गमच्चेय विप्फुरइ ।। (गउडवहो, 340, 339)

जोडो से निकलती, कीडों की पगत
ललाट पर रेंग रही है।
मृत्यु ने जैसे भौह की बॉक यो ऑक दी
कि अभी हॅस उठेगा।
पसलियों का पजर
पुराना होकर कपिश हो चला है -
हृदय में जैसे आज भी लाल-पीला रोष
धधक रहा हो।

इन वर्णनों में रौद्र-बीभत्स करुण की ध्वनि से भयावह हो जाता है। अभिव्यक्ति की चित्रमयता भी देखिये। यहॉ यह चित्रमयता भाव को एक ठहराव देती है जो अन्यथा भावालुता से रुँधे-गद्गद् अतिरेक की ओर बढ सकता था।

वाक्पति का एकमात्र उपलब्ध काव्य है **गउडवहो**। इससे पहले कवि ने और एक महाकाव्य लिखा था **महुमहवियय**। वह नहीं मिलता। वाक्पति **गउडवहो** को ही अपनी प्रौढ रचना मानते थे। परवर्ती रसिकों ने भी इसे ही बचा रक्खा है। अपने दोनों काव्यों की तुलना करते हुए वाक्पति **गउडवहो** के बारे में कहते हैं कि यहाँ उनकी कविता में एक निथरापन है जैसा वनलताओं के बाद के उभरते फूलों में होता है, जो पहले के काव्य में नहीं था ·

महुमयवियय-पउत्ता वाया कह णाण मउलउ इमम्मि ।
पढम-कुसुमाहि तलिण पच्छा-कुसुम वण-लयाण ।। (**गउडवहो**, 69)

गउडवहो 'प्रबन्ध' है - एक लम्बा महाकाव्य। कण्ठत घोषित विषय है यशोवर्मा की मगध-विजय। यशोवर्मा 8वीं सदी के मध्य के एक बडे सम्राट् थे जो भारत के एक बहुत बडे भूभाग पर राज्य करते थे। विद्या के भी सरक्षक थे, और विद्या-रसिक भी। इनके प्रभाव का विस्तार व्यापक था। चीन से भी इनके सम्बन्ध थे, चीन के कई दूत इनके राज्यकाल में भारत आये थे। भारतीय स्थापत्य के कुछ विद्वान् मानते हैं कि ग्वालियर का तेली का मन्दिर भी इन्हीं का बनवाया हुआ है - **गउडवहो** की तरह ही विलक्षण यह मन्दिर उत्तर भारतीय वास्तु शिल्प की अपने आप में एक अनूठी कृति है। वाक्पति यशोवर्मा के सभाकवि थे। भवभूति भी इन्हीं की सभा के रत्न थे। वाक्पति ने भवभूति की प्रशसा की है। उन्हें अपनी काव्य-प्रेरणा का एक विशेष और महिम स्रोत कहा है। उदार शब्दों में उनका ऋण स्वीकार करते हैं। कहते हैं, 'आज भी मेरी रचना जहॉ असाधारण (विकट) कुछ गूँथती हैं, वहाँ

भवभूति-ममुद्र से उछले काव्य-रस के कण उसमें चमक चमक जाते हैं' (गउडवहो, 799)।

गउडवहो का अभिप्रेत विषय ऐतिहासिक है और अपनी तरह से यह काव्य इतिवृत्त को सँजोता भी है। पर काव्य का शीर्षक जिस घटना को केन्द्र में रखता जान पडता है - गौड (या मगध) राजा पर विजय और उसका वध - यह घटना सरसरी सी ही आगे आती है। तीन चार श्लोकों में निपटा दी जाती है।

यशोवर्मा कान्यकुब्ज से राज्य करते थे। उनका राज्य विस्तृत तो था ही, उन्होंने दिग्विजय से राज्य को वढाया भी था। **गउडवहो** को इसी दिग्विजय की कथा कह सकते हैं। मगध का राज्य यशोवर्मा का पडोसी था। काव्य से लगता हे कि विजय का आरम्भ वहीं से हुआ था - 'गउड' या 'गौड' शब्द मगध और गौड दोनों के लिए आया जान पडता है, गौड का उस समय अपना कोई शक्तिशाली राज्य नहीं था, वह मगध के ही अन्तर्गत था।

जिस रूप में आज **गउडवहो** मिलता है, लगता नहीं कि कवि ने उस रूप में उसे छोडना चाहा होगा। इस वात के वहुत से चिह्न काव्य में दिख जाते हैं - वहुत ध्यान से न भी देखें तो भी झलक आते हैं। तभी काव्य के स्वरूप को लेकर विद्वानों में मतभेद रहा है, उसकी समग्रता पर प्रश्न उठे हैं। यह तो सभी को लगता रहा है कि काव्य जिस रूप में हम तक आया है, असम्यक् है। काव्य जिस उद्देश्य से लिखा गया, वह उद्देश्य ही उसमें विखरा-भटका दिखाई देता है। पर जिस भी 'असम्यक्' रूप में वह उपलव्ध है, उसी रूप में उसका रसिकों, पाठकों में सदियों से समादर रहा है - नहीं तो उसकी पाण्डुलिपियाँ नहीं वनतीं और रचना हम तक आती ही नहीं। और कहना न होगा कि रचना का आदर काव्य के रूप में रहा है, इतिहास के रूप में नहीं।

एक पूरे और व्यवस्थित प्रवन्ध की धारणा मन में रख कर **गउडवहो** को देखें तो विखराव वार-वार सामने आता है। समग्र तो क्या, कोई अधूरा भी अवयवी नहीं वनता दिखता। टुकडे टुकडे, गुच्छे गुच्छे, यही रूप उभरता है। पर इन गुच्छों में ही वाक्पति का काव्य है। इन्हीं के कारण **गउडवहो** की पूछ रही है, उसका सरक्षण हुआ है। हम यह भी नहीं कह सकते कि काव्य में आज जो अव्यवस्था दिखती है, कवि के समय की नहीं - वाद की है। काव्य की सभी उपलव्ध प्रतियों में एक सा ही पाठ है। स्पष्ट ही कवि तक जाता है। जिस रूप में उसका सरक्षण हुआ है, कवि ने ही उस रूप में उसे छोडा था - गुच्छों गुच्छों में। लगता यही है कि पीछे के पाठक काव्य को यशोवर्मा की कहानी के लिए या किसी लम्वी गठी हुई कविता - महाकाव्य - के कौतुक से नहीं पढते थे। मुक्तक और मुक्तक-गुच्छों के सग्रह के रूप में ही इसके प्रति आकृष्ट थे। मेरा 'अनुवाद' भी मुक्तकों का ही सग्रह है।

गउडवहो मे मुक्तक-गुच्छों को तरतीब से बॉटा भी नहीं गया है। 'अध्याय' या 'सर्ग' जैसे कोई खण्ड नही है। पूरा काव्य एक निरन्तर अविभाजित प्रवाह है, जबकि विषय-भेद स्पष्ट हैं और विभाजन चाहते हैं। काव्य छोटा भी नहीं - 1209 गाथाओं का 'महा'काव्य है ('प्रक्षिप्तों' को लें तो कुछ ऊपर समझिये)। यह भी नहीं है कि ऐसे काव्यों में अविभाजन का भी चलन था। बस गउडवहो ही इस रूप में मिलता है। लगता है जैसे किसी भी योजना-वध में इसे बिठाने की चेष्टा ही नहीं की गई है। इस दृष्टि मे काव्य अपनी परम्परा में अपवाद ही ठहरता है, और इसे इच्छाकृत भी नहीं कह सकते, क्योंकि मुक्तक-गुच्छों में झॉकें तो महाकाव्यों की परिपाटी का निवाह भी प्रकट हो जाता है। गुच्छे ऐसे विषयों के हैं जो ऐसे महाकाव्य के अपेक्षित से विषय थे देवता-स्तुति, कवि-काव्य लक्षण, नायक यशोवर्म-यश-वर्णन, विजय-यात्रा और यात्रा के भीतर ही ग्रीष्म-वर्णन, प्रावृड्-वर्णन, समुद्र-वर्णन, भिन्न प्रदेश-वर्णन आदि। ऐसा नहीं है कि विन्यास की कोई शृखला बनती ही नहीं, पर उखडती है, टूटती है। गुच्छे अलग-अलग प्रतीत होते रहते हैं। कवि गुच्छों का बेतरतीब सा बुकचा बॉधता दिखता है। लगता है कवि ने अपने लिए नोट्स बनाये थे, खसरा सा खडा किया था, जिसे समग्र आकार में नहीं ढाल पाया। फिल्म का उदाहरण लें। कई फिल्मकार पूरी फिल्म का एक खाका सा मन में रखते हुए सूझ और सुभीता देखते हुए आगे-पीछे के हिस्से फिल्मा कर रखते चले जाते हैं, उन्हें जोड-समेट कर एक धागे में पिरोने का काम बाद में करते हैं। लगता है वाक्पति के साथ ऐसा ही कुछ हुआ है। उन्होंने गडमड कुछ लिख रखा, पूरे को सजा कर एक गुफ बनाने का काम किसी कारण नहीं बन पडा।

काव्य की अव्यवस्था भी विचित्र ही है। जिसे पहला भाग कह सकते हैं - काव्य का दो-तिहाई हिस्सा - उसमें एक सयोजना सी रूप लेती दिखती है, पर बीच काव्य में अचानक उखडाव आ जाता है और एक अटपटी, चकरा देने वाली दरार का रूप ले लेता है। श्लोक 796 तक गौड राजा का वध हो चुकता है। दिग्विजय के बाद यशोवर्मा कन्नौज लौट आता है, ललनाओं से घिरा हुआ, विजयोचित शृगार में रम जाता है। लगता है कहानी जैसी भी बनी, पूरी हुई। पर तभी कवि स्वय आगे आता है। अपना परिचय देता है, कविता की, कवियों की चर्चा करता है- जिस चर्चा की अपेक्षा या तो आरभ में हो सकती है या अत में, उसे यहा'मध्य' में करता है। लग सकता है कि काव्य का अवसान आ गया है। किन्तु कवि अचानक चौंका देता है। सभा के विदग्ध जनों के एक अनुरोध की बात कहता है 'पिछले समय में किस तरह यशोवर्मा ने मगधनाथ (गौडाधिपति) का निपातन किया था, यह हम आप से पूरा सुनना चाहते हैं' (गाथा, 844) विचित्र सी स्थान-च्युत प्रार्थना लगती है, जो कि काव्य के आरभ में आनी चाहिये थी। प्रार्थना सुन कर वाक्पति ऐसा गद्‌गद् हो जाता है कि प्रभु की प्रशसा के वाक्य तक मुँह से नहीं निकाल पाता (847)। पर आगे यशोवर्मा की बढी-चढी, लम्बी-चौडी प्रशसा चलती है। यशोवर्मा को कवि

पृथ्वी के परित्राण के लिए आविर्भूत विष्णु का अवतार वताता है। इस वहाने विष्णु की कथा चल पडती है। साँझ हो जाती है। कवि कहता है मैं योग्य तो नहीं हूँ पर सवेरा होने दो, मैं यशोवर्मा के भुज-दर्प का दर्पण यह गउडवहो आपको सुनाऊँगा। वताऊँगा कि पूर्व के राजाओं का निपातन कैसे हुआ। साथ ही कहता है कि कथा का 'महारम्भ' तो वह कर चुका है (1073-74)। साँझ हो ही चुकी थी, सध्या-वर्णन करना नहीं भूलता। वर्णन के वाद फिर अपने आप को यशोवर्मा-चरित वर्णन में असमर्थ पाता है और सोने चला जाता है। आगे मध्योचित, निशोचित और प्रभातोचित कामीजन-चेष्टा की एक गुच्छा भर काव्योचित चर्चा के वाद, अगले दिन सवेरे कथा सुनाने का आयोजन जमता है। स्त्री-पुरुष उमड पडते हैं। विदग्ध-जन राजा का गुण-गान करते हैं। ठसाठस भीड में आभरणों की टकराहट से उठती सुवर्ण-रज कथारम्भ की घडी को सुनहरा कर देती है। कवि कथा का आरम्भ करता है। कहता है, अचम्भा सुनो। सब चुप हो जाते हैं। यहीं काव्य का अन्त होता है।

कहना न होगा, पहेली सा अन्त है यह काव्य का । इस 'अन्त' को एक छ - सात सौ साल पुरानी पोथी में 'कथापीठ की समाप्ति' कहा गया है। इसका क्या तात्पर्य हो सकता है, विद्वान अरसे से बूझते-बुझाते रहे हैं, प्रश्न उठाते रहे हैं - क्या उपलब्ध गौडवहो किसी और बडे महाकाव्य का आरम्भ है, जो काव्य लिखा नहीं गया? पर काव्य का उद्देश्य : गौड-वध और यशोवर्मा की दिग्विजय, तो काव्य के पहले हिस्से में आ ही चुके हैं, तो माजरा क्या है? एक गुत्थी ही उभरती है। और साथ ही किसी व्यवस्था का, शृखला या योजना का अभाव घर करता है।

गुत्थी का जो भी समाधान हो, स्पष्ट है कि वाक्पति अपने महाकाव्य को किसी 'शिष्ट' सयमित रूप में नहीं छोड पाये। शिष्ट परम्परा के दूसरे तत्कालीन महाकवियों की तरह वे भी परपरा-दिष्ट योजना के प्रति आत्मचेतन जान पडते हैं, पर गुच्छे गुच्छे ही छोड गये हैं। गुच्छों में प्रकृति-चित्रों के भी गुच्छे हैं। उपचार के लिये इन चित्रों को यशोवर्मा की सेना के प्रयाण का अग भी कह सकते हैं। भारत उस समय जगलों का देश था। किसी भी सेना के रास्ते में जगल पडते रहे होंगे। यशोवर्मा की सेना भी जगलों में से कूच करती निकलती है। वाक्पति राजा के साथ थे। जब सेना किसी जगल में आती है तो वाक्पति सेना को भूल जाते हैं; राजा को, राजा की कहानी को भूल जाते हैं। जगल को देखने लगते हैं और उनके देखने में जो विलक्षण दृष्टि है, वही ये कवितायें हैं। इन्हें कवि के महाकाव्य से अलग भी कर लिया जाये तो उस काव्य की हानि नहीं होगी - अग-भग जैसा कुछ नहीं होगा। क्योंकि एक मोटी सी बात यह है कि अग-भग अवयवी का होता है, और गउडवहो कभी अवयवी का रूप ले ही नहीं पाया। फिर यह भी है कि तत्कालीन कविता में - महाकाव्य में भी - हर छन्द का अपने आप में 'मुक्त', स्वतन्त्र, होना काव्य का एक आदर्श भी था।

हम आज वाक्पति जैसे सस्कृत-प्राकृत के कवियों को एक तरह से 'रीति-बद्ध', लीक-चलते कवियों की श्रेणी मे रखने के आदी हैं। हिन्दी के शिल्प-कुशल रीतिकालीन 'सभा'-कवियों को जिस अर्थ में हम परिपाटी-निष्ठ कहते हैं, सस्कृत-प्राकृत के विदग्ध, नागर, शास्त्रों में निष्णात, शिष्ट-विद्वत् कवियों को भी लगभग उसी कोटि में शामिल कर लेना चाहते हैं - अभिप्राय यह कि ये कवि 'स्वतन्त्र' नहीं हैं, भीतर की व्यक्तिगत प्रेरणा से नहीं चल रहे, विशेष राजसी यजमानों की रुचि साध रहे हैं, और किसी शास्त्र-बद्ध प्रणाली के तग रास्ते पर चलते हुए ऐसा कर रहे हैं। हम भूल जाते हैं कि आज के जिन कवियों को हम स्वातत्र्य का आदर्श मानते हैं, वे भी वैसे ही पढे-लिखे, 'शिष्ट', शास्त्र-कुशल, नागर और विदग्ध हैं - और कई तो राजसभा में न सही, राजकाज में सत्ताधीन हैं, राजपुरुष हैं, जैसे कि वाक्पति और दूसरे पुराने कवि थे। तो इन पुरातन कवियों को स्वतन्त्र नहीं मानना, एक विसगत, इतिहास-दृष्टि विशेष का आग्रह ही हो सकता है, आज अपने आप में एक निर्विचार परिपाटी बन गया है। यहाँ, मेरी इस टिप्पणी में, 'प्राचीन साहित्य में कला का स्वातत्र्य और उससे व्यक्तिगत प्रेरणा का सबध' जैसे व्यापक प्रश्नों का स्थान नहीं, पर यह बात तो ध्यान में रखने की है कि पुराने कवियों के लिए परिपाटी कोई बँधी-कसी रूढि या पत्थर की लीक सी नहीं थी, जैसा कि अकसर समझा-समझाया जाता है। परिपाटी ही ढूँढें तो आज के 'निर्बंध' कहलाने वाले युग में भी मिल ही जायेगी, जबकि हम परिपाटी के नाम से ही भौं चढाते हैं। लेकिन परिपाटी शब्द को अलग रखिये, आज के कवि-कर्म को देखिये, तो आज भी भाव और निर्मिति के कुछ आदर्श रूढि या लीक की तरह काम करते मिल ही जायेंगे। ये ही साप्रतिक काव्य (और कला) को एक *धारा* में सहेजते हैं। हम 'परिपाटी' से कतराते हों, 'धारा' की, 'युगबोध' की बात तो करते ही हैं, इन से बँधना भी चाहते हैं। बस, इसे परिपाटी नहीं कहना चाहते। पुराने लोग परिपाटी को सजग स्वीकार करते थे। पर तब भी प्रतिभा का - व्यक्ति-विशेष की प्रतिभा का - कवि की अपनी दृष्टि और कल्पना का, आज से कम मोल नहीं था। यहाँ आज की रागदारी का दृष्टान्त, मैं समझता हूँ, सही दृष्टान्त होगा। हर गायक या वादक राग की एक परिपाटी में अपना शिल्प साधता है। पर एक तो वह परिपाटी कोई सनातन वस्तु नहीं, बदलाव मानती चलती है, दूसरे व्यक्तिगत नवोन्मेष से तो बनती ही है, उसके बिना रह नहीं सकती।

स्वातन्त्र्य और प्रतिभा पर वाक्पति की ही उक्ति से टिप्पणी का अत करता हू। वाक्पति कहते हैं ·

'पहले के कवि काल के कारण (क्योंकि पहल कर रहे थे, इस कारण) अनचले, अनपहचाने मार्गों पर घूमते भटकते रहे। दूसरे, आज के कवि, उन्हीं से कुछ लेकर चलते हैं, पर अपनी मति से दुष्कर कर दिखाते हैं। सच है कि (पिछले) कवियों के चले हुए मार्गों पर क्या कुछ नहीं दिखता, पर उस मार्ग को सीमान्त पर छोड दीजिये, नये कवि को अपनी कुछ कहने दीजिये, सब कुछ नया हो जाता है।

वाणी का स्पन्द ही ऐसा है कि आदिकाल से अपने अपने ढंग से कवि उसका सार सँजोते रहे हैं, पर आज तक उस पर (नये की) मुहर सी की सी लगी है।

काल-गुण पटमकईहिँ भमियमपरिग्गहेसु मग्गेसु ।

इहरा मईहिँ हीरन्ति दुक्कर केवि काणपि ।।

कत्तो णाम नइट्ठ सच्च कइ-सेविएसु मग्गेसु ।

सीमन्ते उण मुक्कम्मि तम्मि सव्व नव चेव ।।

आ-संसार कइ-पुगवेहि तद्दियह-गहिय-सारोवि ।

अज्जवि अभिण्ण-मुद्दोव्व जयइ वाया-परिप्फुदो ।।

(गउडवहो, 84, 85. 87)

अनुक्रमणी

प्रस्तुत सूची में कविता के साथ मूल का सदर्भ अकित है। मूल की गाथा-सख्या का आधार-पाठ है गउडवहो का प्राकृत ग्रथ परिषद् द्वारा अहमदाबाद और वाराणसी से प्रकाशित, नरहर गोविन्द सुरु सपादित, 1975 का प्रौढ सस्करण। पाठक की सुविधा के लिए इस सग्रह के कविता-क्रम को बनाये रखते हुए एक-एक कविता के शीर्षक के आगे मूल-गाथा की सख्या दी गई है। 176 वीं कविता, 'निष्प्रभ, धूसर, इन्द्रधनुष', की गाथा-सख्याये उसी क्रम में दी गई है जिस क्रम में कविता की कडिया हैं।